हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, बम्बई।

मुद्रक—
गणपति कृष्ण गुर्जर,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, जतनबड़,
काशी ४६८-२२।

प्राक्कथन ।

—:※:—

जबसे इस पृथ्वी पर मनुष्य रहने लगा है, तभीसे वह अपनी बाह्य तथा आध्यात्मिक, सूक्ष्म तथा स्थूल उन्नत्तिके लिए चिन्तवन करता रहा है। देश, काल, व्यवस्था और स्वभावके अनुसार मनुष्य भिन्न भिन्न प्रकारका होता गया है; और इसी लिए उसने अपनी सामाजिक उन्नतिके लिए नाना प्रकारके नियम और प्रणालियाँ बनाई हैं। परन्तु इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि मनुष्य-समाजकी सबसे अधिक वृद्धि, प्रसार और उन्नति उसी प्रणालीसे हुई है, अथवा उसके होनेकी आशा है, जिसमें स्वार्थका लवलेश भी न हो। अवशिष्ट नीतियाँ कुछ समय तक अपनी चमक-दमक, तड़क-भड़क, बहार और शृंगार दिखा-कर कालकी भेंट होती गई और अब भी होती जा रही हैं। मनुष्य-की उन्नतिके साथ स्वार्थने भी अपने अनेक रंग दिखाये। पहले पहल मनुष्यने इसका उपयोग स्वयं अपने ही लिए किया। आरम्भमे उसने अपने अतिरिक्त और किसीका विचार नहीं किया। जब मनुष्यका कुटुम्ब या परिवार हुआ, तब स्वयं अपने और कुटुम्बके लिए स्वार्थका प्रयोग होने लगा। जब मनुष्योंके कई कुटुम्ब बन गये और उनकी फिर क्रमशः वृद्धि होने लगी, तब बस्तियाँ, ग्राम, कस्बे और नगर बनने लगे। मनुष्य-कुलकी वृद्धिके साथ ही साथ स्वार्थ भी क्रमशः अपने पाँव पसारने लगा। स्वार्थने अपना अड्डा नागरिकता और समाजत्व तक जा जमाया। उसने अपना लट्ठ और भी लम्बा और मोटा बना लिया। एक नगरके

मनुष्य अपने ही नगरके हितोंकी रक्षा करने लगे। एक समाजके लोग अपने ही लाभको सर्वोपरि समझने लगे। मनुष्य-परिवारोंकी जब और भी वृद्धि हुई, तब बहुतसे गाँवों, कस्बों और नगरोंका एक देश बन गया और उसमें रहनेवालोंकी एक जाति हो गई। चाहे भिन्न भिन्न कुटुम्बोंके गोत्र, धर्म्म, रस्म-रिवाज भिन्न भिन्न प्रकारके ही क्यों न रहे हों, परन्तु फिर भी उन सबका एक संघटन हो गया और उनकी एक जाति बन गई। उस समय 'जातीयता' और 'देशहितैषिता' का प्रादुर्भाव हुआ। भला उस समय स्वार्थ अपना राज्य बढ़ाये बिना कैसे रह सकता था! उसने और भी हाथ-पैर फैलाये और अपनी मोहर 'जातीयता और देशहितैषिता' पर भी लगा दी। एक देशमें रहनेवाली जाति केवल अपने ही देशके हितों तथा स्वत्वोंकी रक्षा करने लगी। चाहे दूसरे देश या जातिको बड़ीसे बड़ी हानि ही क्यों न पहुँचे, चाहे उसका सर्वनाश ही क्यों न हो जाय, पर स्वार्थको उसकी परवाह नहीं। यदि स्वार्थ इसी प्रकार अपने पैर कुछ और आगे बढ़ाता और समस्त देशों और जातियों पर अपने समान प्रभुत्वका डंका बजा देता तो समस्त संसारकी 'विजयश्री' का राजतिलक उसीके ललाट पर कुंकुमित हो जाता और वह समस्त जातियोंका समान रूपसे शासक बन जाता। उस दशामें सब जातियाँ एक ही राजाके साम्राज्यमें रहकर बहिनें बन जातीं और एक ही आदर्श पर दृष्टि रखकर, एक ही नीति पर चलकर अपनी और साथमें समस्त दूसरी जातियोंकी भी भलाई करने लग जातीं। परन्तु वाह रे स्वार्थ! तेरी चाल-ढाल भी बड़ी विचित्र है। तूने संकुचित "जातीयता" और "देशहितैषिता" तक ही अपनी जीतकी दुन्दुभी बजाकर छोड़ दी। तेरी कृपासे एक देशके मनुष्योंका, एक जातिके लोगोंका तो एक मन्तव्य हो गया—एक जातिके लोगोंमें तो समान भाव, समान लाभ, समान

स्वत्व आदिके विचार उत्पन्न हो गये; परन्तु वह कृपा आगे न बढ़ सकी और तूने उसे वहीं तक रोककर भिन्न भिन्न देशों और जातियोंको अलग रखकर आपसमें लड़ा दिया। भिन्न भिन्न जातियां अपना अपना स्वत्व और हित भिन्न भिन्न समझने लग गईं। तूने एक देश अथवा जातिके लोगोंमें तो इतना मेल-जोल करा दिया, परन्तु फिर भी अपनी दुष्ट प्रवृत्तिके कारण अपना प्रभाव और अधिकार इतना बढ़ाकर भी तू मनुष्य मनुष्यमें, कुटुम्ब कुटुम्बमें, नगर नगरमें, जाति जातिमें और देश देशमें स्पर्द्धा, प्रतियोगिता और लड़ाई-भिड़ाई कराता ही रहा। प्राचीन कालका 'महाभारत' और आधुनिक कालका 'महायूरोप' दोनों तेरी ही करतूतें हैं। "जातीयता" पर तूने अपना अधिकार इतनी दृढ़तासे जमाया कि उसकी छायाके नीचे खड़ी होकर, अपने अपने दल और संघ बनाकर चौदह जातियाँ युरोपके रणक्षेत्रमें भयानक और क्रूर सिंहोंकी नाईं आपसमें भिड़ गईं और उन्होंने अपने करोड़ों मनुष्योंके सिर कटवाकर उनके रक्तसे बड़े बड़े नद बहा दिये और मुण्डोंके पहाड़ लगवा दिये।

प्रकृतिके नियम सदा अटल और निश्चित होते हैं। वे मनुष्योंके बनाये हुए नियमोंकी भाँति बदलते नहीं। उनमेंसे एक नियम यह भी है कि जब तक कोई व्यवस्था सीमान्त तक नहीं पहुँचती, तब तक वह रुकती भी नहीं। गेंद जब पृथ्वीसे टक्कर खाता है, तभी वह फिर ऊपर उछलता है। यही प्रकृतिका प्रतिक्रिया (Reaction) वाला सिद्धान्त है। अतः स्वार्थ जब इतना प्रबल और शक्तिशाली हो गया कि उसने थोड़ेसे समयमें करोड़ों मनुष्योंका अन्त कर दिया और खरबों रुपये पानीमें बहा दिये, तब कहीं मनुष्यों, कुटुम्बों और जातियोंको प्रतिफल और प्रतिक्रियाके रूपमें ज्ञान हुआ और उन्होंने समझा कि स्वार्थके कारण ही हमारे 'तन, मन, धन' का

इतना भयंकर और कल्पनातीत नाश हुआ है। यदि युरोपका यह भयंकर संग्राम न होता और उसमें रक्तकी इतनी बड़ी बड़ी नदियाँ न बहतीं तो अभी और भी बहुत दिनों तक स्वार्थका दृढ़ और दुर्गम किला ज्योंका त्यों बना रहता। परन्तु महा-संग्रामकी तोपोंने ही लोगोंका ध्यान उसकी ओर आकृष्ट किया। अब युरोपको तथा अन्य जातियोंको स्पष्ट रूपसे जान पड़ने लगा कि हम पर यह गोले और कहींसे नहीं, उसी स्वार्थरूपी भीषण दुर्ग परसे आ रहे हैं। वे समझने लगीं कि देशहितैषिताकी अपेक्षा संसारहितैषिताका, जातीय स्वत्वोंकी अपेक्षा मानव स्वत्वोंका, व्यक्तित्वकी अपेक्षा संघत्वका, जातीयताकी अपेक्षा मनुष्यताका, अहंभावकी अपेक्षा विनयका, विषमताकी अपेक्षा समताका, घृणाकी अपेक्षा प्रेमका और स्वार्थकी अपेक्षा परमार्थका भाव कहीं अधिक महत्, पवित्र और कल्याणकारक है।

मैंने आरम्भमें निवेदन किया था कि मनुष्यने अपने समाजके लाभके लिए समय समय पर जितनी नीतियाँ रची हैं, उनमें सर्वोपरि, सर्वोत्तम और सर्वोत्कृष्ट नीति वही है जिसमें स्वार्थकी बू-बास, नाद या झनकार न हो। वह नीति नई नहीं है, बल्कि बहुत पुरानी है। यद्यपि स्वार्थका राज्य, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, शताब्दियोंसे विस्तृत होता चला आया था, तथापि उस राज्यमें रहनेवालोंमें समय समय पर अनेक क्रान्तिकारक, राज्यविद्रोही और विप्लवकारी भी होते ही आये, जिन्होंने अपने स्थान पर स्वार्थका दृढ़ राज्य नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिए लोगोंको बहुत कुछ उपदेश, चेतावनी और ज्ञान दिया और उसके वास्ते अपना जीवन तक अर्पित कर दिया। भगवान् बुद्धदेव, महात्मा ईसा मसीह आदिने स्वार्थका राज्य उलटनेके लिए अपने शरीर तकका बलिदान कर दिया। उन सबकी नीतियोंका सारांश यही है

कि:—"स्वार्थके राज्यसे भागकर परमार्थ और भ्रातृभावके साम्राज्य-में जा बसो"। आज दिन फिर उसी नीतिका प्रचार और घोषणा होने लगी है।

इस पुस्तकमें उसी नीतिका उल्लेख किया गया है जो इस भारतभूमिके प्राचीन कालके धर्म्मशास्त्रज्ञोंने सहस्रों वर्ष पूर्व बतलाई थी। चाहे जगत्‌के अन्य देशोंमें, जहाँ पदार्थवाद, ऐहिक सुख तथा रजोगण और तमोगुणकी प्रचण्डताने गत सहस्रों वर्षोंसे मनुष्योंको केवल खाने-कमाने, रागरंग मचाने तथा परस्पर बल-प्रयोग करनेमें रत कर रखा था, इस नीतिका विस्मरण हो गया हो, परन्तु भारतवासियोंके लिए यह कोई नवीन नीति या नूतन धर्म्म-मार्ग नहीं है। यह तो उनकी पुरानी पढ़ाईका पाठ है। यद्यपि इधर सौ दो सौ वर्षोंसे जीवन-संग्रामके लुभानेवाले सिद्धान्तों-को सीखकर इस देशके थोड़ेसे लोग उसको भले ही भूल गये हों, परन्तु भारतवर्षमें, जिसने जगत्‌के बहुतसे देशोंको शिक्षा-दीक्षा और ज्ञान-विज्ञान दिया है, यह कोई नई नीति नहीं है। यह उसी नीतिकी आवृत्ति या दोहराव है जिसको यहाँके धर्म्मनीतिज्ञ धुरन्धरोंने अगणित वर्षों पूर्व ही प्रपन्न और स्थापित कर दिया था। वह नीति इस प्रकार थी:—

अहिंसा परमो धर्म्मः।

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥
मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः॥
परोपकार पुण्याय, पापाय परपीड़णम्। आदि आदि।

अर्थात् दूसरोंको किसी प्रकारका कष्ट न देना ही मनुष्यका सर्वोत्कृष्ट धर्म्म है। 'यह मेरा है' और "यह पराया है" ऐसी

धारणा तो उनकी होती है जिनका हृदय छोटा होता है; परन्तु जो उदार चित्त और विशाल आत्माके मनुष्य होते हैं, उनके लिए तो समस्त संसार ही स्वयं उनके परिवारके समान है। जो अपनी धर्म्मपत्नीके अतिरिक्त और समस्त स्त्रियोंको अपनी माताके सदृश समझता है, औरोंके धनको जो मिट्टीके ढेलेके समान समझता है और जो समस्त प्राणियोंको उसी दया और प्रेमके मृदुल भावसे देखता है जिससे वह अपनी माताको देखता है, वही वास्तविक और सच्चा पण्डित है। निरी पुस्तकें लाद देने और निरी स्वार्थ नीतिका पाठ सीख लेनेसे मनुष्य पण्डित नहीं कहला सकता। जो दूसरोंका उपकार करता है, वही पुण्यात्मा है और जो दूसरोंको कष्ट पहुँचाता है, वही पापी है।

विद्याभूषण, उदारचित्त, दयालुहृदय, पवित्रात्मा श्रीयुत पाल रिचर्ड्स, (जो फ्रांस देशनिवासी हैं) "To the Nations" नामक एक पुस्तक लिखी है जिसमें उन्होंने उपर्युक्त धर्म्मनीतिके मारका सन्देश समस्त जातियोंको और विशेषकर युरोपकी जातियों-को भेजा है। उसी पुस्तकका हिन्दी भाषान्तर आज मैं अपने भार-तीय भाइयोंके सम्मुख उपस्थित करता हूँ। मूल पुस्तककी भाषा बड़ी सारगर्भित और गम्भीर है और उसके उद्देश्य बहुत ही उच्च एवं गूढ़ हैं। इसी लिए उसके मर्मस्थलों और गूढ़ सिद्धान्तोंको, अपनी तुच्छ बुद्धि और शक्तिके अनुसार भली भाँति प्रकट करनेके लिए मुझे स्थान स्थान पर अनेक परिवर्त्तन तथा परिवर्द्धन करने पड़े हैं। महात्मा पाल रिचर्ड कैसे उदारस्वभाव, सच्चरित्र और जगत्-हितैषी हैं, इसके लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। क्योंकि स्वयं यह पुस्तक ही उनकी विश्वव्यापी शान्तिकी आकांक्षा-की आरसी है जिसमें उनके उच्च कोटिके उदार भाव भली भाँति प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। कविश्रेष्ठ श्रीमान् रवीन्द्रनाथजी ठाकुरके

अनुपम विचारोंसे भी कौन शिक्षित मनुष्य भली भाँति परिचित न होगा ? इन्हीं महाशयने मूल पुस्तककी एक बहुत ही योग्यता-पूर्ण और सारगर्भित भूमिका लिखी है जिसमें आद्योपान्त विश्व-शान्तिकी आकांक्षा भरी पड़ी है। इस भूमिकाका भी पुस्तकके आरम्भमें भाषान्तर कर दिया गया है।

इसी पुस्तकके विषयकी एक और आवश्यक बात निवेदन करना उचित है। श्रीमान् पाल रिचर्डने मूल पुस्तक सन् १९१७ में लिखी थी जब कि युरोपमें महायुद्ध बड़ी भीषणताके साथ चल रहा था। इसी लिए पुस्तकके कई स्थानोंमें उस समयकी विशिष्ट व्यवस्थाका ध्यान रखकर कई बातें लिखी गई हैं। मैंने भी उनमें कोई परिवर्त्तन नहीं किया है और इसी तरह लिखा है मानों वह संग्राम अब भी हो रहा हो।

अन्तमें सविनय यह निवेदन किया जाता है कि यदि मनुष्य और जातियाँ मनुष्यताके भावों और आदर्शोंको, जैसा कि इस पुस्तकमें कहा गया है, अपने हृदयोंके कोमल पटलों पर प्रेमके साथ अङ्कित करेंगी तो उनको सच्चा आनन्द और वास्तविक शान्ति अवश्य मिलेगी। योरपके भीषण संग्रामने सभी जातियोंकी आँखें खोल दी हैं। क्या अब भी निर्दयता, स्वार्थ और अहंमन्यताका भयावह और विषाक्त हुङ्कार मनुष्योंको भयभीत करता रहेगा ? क्या इतनी अधिक नरहत्या, क्लेश, मारपीट, द्रव्यहानि और कठिनाई सहनेके पश्चात् भी जातियाँ परस्पर मान, आदर, स्नेह, सहानु-भूति, भ्रातृभाव और समानताका व्यवहार न करेंगी ? इसमें सन्देह नहीं कि वे करेंगी और अवश्य करेंगी। यदि दुर्भाग्यवश वे ऐसा न करेंगी, तो कुछ ही कालके पश्चात् थोड़ी सी शक्ति और युद्ध-सामग्रियाँ पुनः एकत्र होते ही वही मारकाट, वही भीषण संग्राम, वही शान्तिका नाश फिर आरम्भ होगा। अतः विश्व-

व्यापी शान्ति स्थापित करनेके लिए प्रत्येक जातिको मनुष्यताके आदर्शको अपने हृदय-मन्दिरमें आदर और प्रेमके साथ स्थापित कर लेना परम आवश्यक है।

हे परमदयालु परमात्मन्! हे जगदीश्वर! हे भगवन्! हम सबको ऐसी बुद्धि दे, ऐसा सुज्ञान दे, ऐसी सुशक्ति दे और इन सबको धारण करनेके लिए ऐसा सुमस्तिष्क और सुहृदय दे कि हम एक दूसरेके रक्तके प्यासे न रहें; बल्कि स्नेह और सहानुभूति, भाईचारे और मित्रताके कोमल बन्धनमें बँधे रहकर अखिल जगत्का कल्याण करें और उसको स्वर्गमें परिणत कर दिखावें।

इस पुस्तककी भाषा आदिके संशोधनमें मेरे मित्र बाबू रामचन्द्रजी वर्म्माने जो कष्ट उठाया है, उसके लिए मैं उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

खाचरियावास फोर्ट
माघ शुक्ला १
विक्रम सं० १९७८

विश्वव्यापी शान्तिका आकांक्षी,
विनीत—
ठा० कल्याणसिंह शेखावत बी. ए.

श्रीमान् रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी
भूमिका ।

मनुष्य जीवधारी है। उसमें व्यक्तिगत विशेषताएँ होती हैं। उसके खान-पान, वस्त्र-आभूषण, व्यवहार-विचार और राजनीति इत्यादिकी प्रणालियोंमें स्पष्ट रूपसे पारस्परिक अन्तर होते हैं। इसी कारण फ्रेंच और जर्मन जातियोंके लोगोंमें जो कि न केवल निकटस्थ पड़ोसी हैं, बल्कि जिनमें जाति-गोत्रकी समानता भी है, बहुतसे अन्तर हैं जिनकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। ये दोनों जातियाँ एक ही वंशवृक्षकी शाखाएँ हैं और इसी लिए उनके शारीरिक संघटन, धर्म्म-सिद्धान्त, कर्त्तव्य-परायणता और राज्यप्रणाली में समानता होते हुए भी उनमें बहुत सी विभिन्नताएँ हैं जो स्पष्टतया दिखाई देती हैं और जिन पर हम विचार किये बिना नहीं रह सकते।

परन्तु जातियाँ मनुष्योंकी नाईं देहधारी और जीवधारी नहीं हैं। जाति तो केवल एक चालढालके बहुतसे मनुष्योंके समूहको कहते हैं। वे केवल शक्ति और बलकी संस्थाएँ हैं। उनके दैहिक और मानसिक स्वरूप सर्वत्र लगभग एक ही समान होते हैं। उन संस्थाओंमें जो अन्तर होता है, वह केवल योग्यताकी न्यूनाधिकताका होता है। समयके फेरसे अथवा दैववश जब किसी जातिका कोई मनुष्य अपने मस्तिष्ककी विकृतिके कारण राष्ट्रविज्ञानमें कुछ परिवर्त्तन या आविष्कार करता है, तब अवश्य ही उसकी जाति

या देशकी राजकीय परिस्थितिकी दृढ़तामें कुछ हलचल, कुछ क्रान्ति हो जाती है। परन्तु वह जाति उस परिवर्त्तन या आविष्कारको भी स्वयं अपने ही विचारोंका विकास समझने लगती है। पर जिस देशमें राजकीय मशीनसे मनुष्यत्व खूब दब जाता है, वहाँ जाति अपने आपको बहुत विजयी और प्रभावशाली समझने लगती है। आधुनिक संसारमें मनुष्योंकी जीवित शक्ति और जातीय परिस्थितिकी रचनाके प्रकारोंमें बड़ा संग्राम चल रहा है। यह संग्राम उसी संग्रामके समान है जो प्राचीन मध्य एशियाके निर्जन रेतीले मैदानों और मनुष्यके बसने और खेती करनेके भूमि-क्षेत्रोंके बीचमें हुआ था। उस संग्राममें रेतीले मैदान बढ़ते बढ़ते यहाँ तक बढ़ गये कि मानव-जीवन और मानव-सौन्दर्यका स्थान धीरे धीरे संकुचित होता हुआ अन्तमें बिलकुल ही न रह गया। जब मनुष्यत्वके उच्चतर आदर्शोंका विस्तरण महत्त्वपूर्ण, उत्तम और आवश्यक नहीं समझा जाता, तब जातीयताकी योग्यता और सम्पन्नताकी जकड़नेवाली प्रणाली और भी प्रभावशाली तथा शक्तिमान हो जाती है; और यदि सदैवके लिए नहीं तो भी कुछ कालके लिए तो वह अभिमानपूर्वक अपने आपको सर्वोत्तम और जीवित रहनेके सर्वथा योग्य प्रमाणित कर देती है। मनुष्यके शुद्धाचरण धारण करने तथा परमार्थको ही सर्वश्रेष्ठ समझनेके उच्च कोटिके जो उद्देश्य या आदर्श होते हैं, उनको वह अपनी प्रकृतिके अनुसार केवल अपनी जातिके लिए ही नहीं, बल्कि समस्त संसारके मनुष्योंके साथ प्रयुक्त करना उचित समझता है। परन्तु जब वह जातीयताकी अथवा साम्प्रदायिक लहरोंमें अपने आपको बहा देता है, तब फिर वह इन सिद्धान्तोंको अपनी जाति और अपने देशके मनुष्योंके ही साथ काममें लाने लगता है और दूसरी जातियों या दूसरे देशके लोगोंको "परकीय" समझकर

उनसे ईर्ष्या, द्वेष और वैमनस्य या कमसे कम विषमताका व्यवहार अवश्य ही करने लगता है।

ऐहिक प्रवृत्ति उसे ऐसी प्रेरणा करती है कि वह अच्छे सिद्धान्तोंको केवल अपनी ही जातिके मनुष्योंके साथ काममें लावे और दूसरोंके साथ लूट-खसोट, वैमनस्य और द्वेषका आचरण करे। पर यदि वास्तवमें देखा जाय तो जातीयता मनुष्यका वह जीवित अंश है जो जीवित रहनेके योग्य नहीं है। और यही कारण है कि जातीयताके विस्तरणमें एक प्रकारकी उदासीनता और एकरङ्गा ढङ्ग होता है। आधुनिक विशाल और सुप्रख्यात नगर जो इस जातित्वके प्रभुत्वके दृष्ट आनन या चिह्न हैं, समस्त संसारमें एक ही प्रकारके हैं। अमेरिकाके सैनफ्रान्सिस्को, इङ्गलैण्ड-के लण्डन, फ्रांसके पेरिस, टर्कीके कुस्तुन्तुनियाँ, भारतके कलकत्ता, जापानके टोकियोको देखिये। सबकी एक चालढाल, एक बात-चीत है। इन सब नगरोंके वास्तविक चेहरे नहीं दिखाई देते, केवल स्वाँग भरे हुए,—भेष बदले हुए दिखाई देते हैं। वास्तविकता दिखाई कहाँसे दे? जातीयताका यह स्वाँग वास्तविकताको सम्पूर्णतः ढके हुए रहता है।

जातियाँ मनुष्योंकी बनी हुई हैं और मनुष्य हैं जीवधारी; और जीवधारी अपने रूपको, अपने विचारोंको प्रकट किये बिना नहीं रह सकते। विचारोंका यही प्रकाशन स्वरूप-रचनामें परिणत होता है। रचना कई प्रकारकी होती है। साहित्य, कला-कौशल, दर्शन-मीमांसा, सामाजिक रीति और रिवाज, संकेत और चिह्न ये सब रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ पृथक् पृथक् जातियोंकी पृथक् पृथक् होती हैं। जैसे एक सार्वजनिक भोजमें—पब्लिक दावतमें—नाना प्रकारकी भोजन-सामग्रियाँ होती हैं, वैसे ही ये भिन्न भिन्न जातियों-की रचनाएँ हैं और उन भोज्य-पदार्थोंकी नाईं हमारे भोग-

के वैभवको बढ़ाती और हमें सत्यका ज्ञान करानेमें अधिकतर सहायता देती हैं। वे मानव संसारके जीवनके रंगबिरंगे सौन्दर्यको बढ़ाती हैं। परन्तु भली भाँति स्मरण रखना चाहिए कि उपर्युक्त रचनाएँ—बनावटें—मनुष्योंकी सिरजी हुई हैं, न कि जातियोंकी। ये व्यक्ति-विशेषकी कारगुजारियाँ हैं, न कि जाति-विशेष की; क्योंकि जाति एक समूहवाचक शब्द है और वह जीवधारी नहीं है। जातियाँ स्वयं इन रचनाओंका आविष्कार नहीं करतीं। वे तो केवल इनको बढ़ाती या नष्ट करती हैं। रचनाओं और बनावटोंको परिस्थितियाँ आवश्यक हैं—कभी कभी नाश करनेकी परिस्थितियोंका होना भी आवश्यक हो सकता है—परन्तु जब लोभ और ईर्ष्या द्वारा उत्तेजित होकर ऐसी नाशोत्पादक संस्थाएँ संसारके सर्वोत्तम भागोंको अधिकृत कर लेती हैं और व्यक्ति-विशेष जीवित मनुष्यको, जो रचनाओंका वास्तविक अधिष्ठाता है, हटाकर कोनेमें रख देती हैं, तब साम्यभाव, समता या सुरीलापन नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और मानव इतिहास भयंकर घटनाओं और क्रान्तिकी ओर बेतहाशा दौड़ने लगता है।

मनुष्यत्व जहाँ कहीं जीवित है, वहाँ आध्यात्मिक आदर्शोंसे सुरक्षित रहता है। परन्तु जब यह एक मृत संघटन हो जाता है—निर्जीव व्यवस्थाके सहारे चलने लगता है—तो फिर वे उत्तम आदर्श उसके अन्दर नहीं घुसने पाते। क्योंकि इस प्रकारसे जातीय अथवा राष्ट्रीय परिस्थितियोंको स्थापित करनेका जो प्रयत्न है, उसकी वास्तवमें उन्नति नहीं होती, उसका केवल विस्तार होता है। इसलिए परिस्थिति-रचना केवल बाहरी रचना है और वह हमारे आभ्यन्तर सुरक्षणके लिए पर्याप्त नहीं हो सकती। इस बाहरी रचनाके लिए हम एक ईंट पर दूसरी ईंट रखते और उसको आधुनिक विज्ञानके बनाये हुए बढ़ियासे बढ़िया मसालेसे जोड़ते

रह सकते हैं। परन्तु इसकी नींव मनुष्यकी अन्तर्गत सजीव प्रकृति है जो अपने हृदय पर इन असंख्य ईंट-पत्थरोंका मुरदा बोझ नहीं सह सकती। इसलिए अन्तमें कोई न कोई कारण, जो ऊपरसे भले ही अल्प और सूक्ष्म दिखाई दे, इस भारी संघटनकी इमारतको जड़से हिला देता है और उसमें दरारें बना देता है। जब वह इमारत इस प्रकार एक बार फटकर गिरने लगती है, तब फिर हमारी समझमें यह भी नहीं आता कि उसे गिरनेसे कैसे रोका जाय। पर साथ ही इस प्रकार उस इमारतका एक दम टूटना असंगत और अमंगल-जनक जान पड़ता है। फिर कोरी धर्म्मपूर्ण लोकोक्तियाँ या विवेक-प्रचुर शिक्षाएँ आत्मिक आकर्षणके तराजूको पुनः ठिकाने पर लानेमें असमर्थ होती हैं।

कितने अन्यायकी बात है कि सामाजिक मनुष्यका आदर्श तो निस्स्वार्थता और जातिका आदर्श स्वार्थ रखा गया है! जाति व्यक्तिगत मनुष्योंकी ही बनी हुई है। अब व्यक्तिशः तो मनुष्य स्वार्थको त्यागें, और समष्टि रूपमें उसको ग्रहण करें! चाहे वे जातिमें भी सम्मिलित हों तो भी हैं तो मनुष्य ही। फिर उनसे यह विपरीत बात कैसे निभ सकती है? यह द्वैतवाद, ये दो परस्पर विरोधी भाव एक ही हृदयमें कैसे समा सकते हैं? कितने आश्चर्यकी बात है कि व्यक्ति या मनुष्य-विशेषके स्वार्थकी तो निन्दा की जाती है और समष्टि अथवा जातिके स्वार्थकी प्रशंसाके पुल बाँधे जाते हैं। इससे एक बहुत ही निराशापूर्ण नैतिक अन्धापन उत्पन्न होता है जिससे स्वतः मनुष्यके धर्म्म और उसीकी जातिके धर्म्ममें अन्तर पड़नेके कारण भारी गड़बड़ मच जाती है। यों देखा जाय तो ईसाई धर्म्मका सिद्धान्त अहिंसा है; अर्थात् दूसरोंको न मारना, उनपर आक्रमण न करना और यहाँ तक कि उनकी निन्दा भी न करना। परन्तु शिव शिव, आजकल हम

ईसाइयोंको बिलकुल विपरीत चलते हुए देखते हैं। हम देखते हैं कि कई ईसाई दृढ़ताके साथ यह कहते हैं कि ईसाई धर्म्मके कुछ सर्वोपरि और विशेष अधिकार हैं, क्योंकि क्रिश्चियन धर्म्मके समान और किसी धर्म्मका संसारमें विस्तार और प्रचार नहीं है। वाह वाह! यह तो वही नीति हुई कि यदि किसी चोरके पास चुराया हुआ असंख्य धन हो, तो हम कह दें कि इस चोरका बड़ा अच्छा धर्म्म है; क्योंकि इसके पास चुराया हुआ धन बहुत है। जब संग्राममें किसी जातिकी जीत होती है, तब वह जाति अपने धर्म्म-मन्दिरोंमें कदाचित् इसलिए ईश्वरको धन्यवाद देती है कि हमें मनुष्य-हत्यामें अच्छी सफलता हुई! वह भूल जाती है कि ठग और डाकू लोग भी ठीक इसी प्रकार अपने हत्याकाण्डकी सफलताके लिए देवीको मनाते, उसको धन्यवाद देते और अपनी कुत्सित और दुष्ट सफलताको उसीके कृपाकटाक्षका फल मानते हैं। परन्तु ठग इस बातको खूब मानते हैं कि हमारी देवी नाश और हत्याके सिद्धान्तकी प्रतिनिधि है—वही हमें यह सिद्धान्त स्पष्ट रूपसे बताती है। अर्थात् वे लोग अपनी ही क्रूर और हत्याशील प्रकृतिको देवीका मूर्त्त स्वरूप देकर पूजते हैं; क्योंकि उनकी ऐसी प्रकृति उन सबकी—उनके गरोहकी—उनके समाजकी—समान रूपसे है, न कि उनमेंसे किसी किसीकी; और इसी लिए वे उसे पवित्र समझते हैं। ठीक इसी प्रकार आधुनिक गिरजाघरों—धर्म्म-मन्दिरों—में जातिके समस्त मनुष्य स्वार्थ, ईर्ष्या, अहङ्कार और लोभको अपने समान भाव समझकर पूजते और ईश्वरके गुणानुवादके साथ साथ इनका भी गुणगान करते हैं।

हमें यह अवश्य मानना पड़ता है कि मनुष्यके स्वभावमें दोष और पाप है; और यद्यपि धर्म्मनीति पर हमारा बहुत कुछ विश्वास है और हम आत्मसंयमके लिए भरसक प्रयत्न करते हैं, परन्तु

फिर भी वे दोष और पाप हममेंसे अनेकोंके हृदयोंमेंसे फूटे पड़ते हैं। वैसे तो वे पाप—वे बुराइयाँ—स्वयं ही निंद्य और घृणित हैं, परन्तु उनको हमारे द्वारा जो उत्तेजना और जय प्राप्त होती है, उनसे वे और भी भयङ्कर हो जाते हैं।

मनुष्यके इतिहासमें सदैवसे ऐसा होता चला आया है कि कइयोंको तो स्वयं दुःख भोगना पड़ता है और कई दूसरोंसे दुःख भोगवाते—दूसरोंको दुःख पहुँचाते हैं। पाप पर हमारी सम्पूर्ण विजय कभी नहीं हो सकेगी। कभी हम उस पर न्यूनांशमें विजयी होंगे और कभी अधिकांशमें। बस हमारी सभ्यतामें यह एक निर्निमेष और अटल कार्रवाई है जिसमें कभी हम पाप पर आक्रमण कर लेंगे, कभी पाप हम पर आरूढ़ हो जायगा। यह कार्रवाई उसी प्रकार होती रहेगी जिस प्रकार दीपकमें जलने और प्रकाश करनेकी कारवाई होती रहती है।

सम्पूर्णताके अनादि आदर्श और कार्यनिर्माणकी अपूर्णता या अधूरेपनमें जो पारस्परिक अनमेल या विरोध है, सारी सृष्टिमे उस विरोधको ऐसा उपयुक्त स्थान दिया जाता है जिसमें वह बेढंगा न जान पड़े। आदर्श—हमारी आत्माके अन्तर्गत आदर्श—तो अनादि कालसे यही प्रयत्न करते आ रहे हैं कि हम, हमारे कार्य और हमारे निर्माण बिलकुल निर्दोष, सम्पूर्ण, सुन्दर और उपयुक्त हों; परन्तु हममें इन्द्रियोंसे प्रेरित जो वासनाएँ और लालसाएँ हैं, वे स्वयं हमारे और हमारे कृत्योंके पूर्ण सुन्दर और उपयुक्त होनेमें बाधा डालती हैं। इन दोनोंमें लगातार एक संग्राम होता चला आया है और इसीके कारण हमारी बातों और हमारे कार्योंमें अधूरापन और कचाई रहती है। परन्तु इन दोनों प्रकारकी कार्रवाइयोंमें जो असम्बद्धता या विरोध है, वह भी एक प्रकारका सुरीलापन या सामंजस्य ही है। जब तक कार्य्य-साधन-

के अभाव-रूप अधूरेपनके साथ साथ भलाईका भाव रूप आदर्श चलता रहता है और जब तक इन दोनोंकी गतिमें कोई विशेष अन्तर उपस्थित नहीं होता, तब तक हमें क्लेश और हानिसे भयभीत न होना चाहिए। हममें जब तक भलाईका आदर्श विद्यमान रहे और वह अपने बाधक प्रतिघातोंके साथ साथ चलता रहे, उनसे बहुत पीछे न रह जाय, तब तक हमें हताश और दुःखित होनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि हम बुराइयोंको भलाइयोंसे जीतते रहेंगे और इन दोनोंका द्वन्द्व-युद्ध चलता रहेगा।

इसी लिए प्राचीन समयमें यदि कोई विशेष जन-समुदाय उपद्रव मचाता और दूसरे लोगोंसे उनके मानुषिक स्वत्व छीननेकी चेष्टा किया करता था, तब वह कभी तो अपने आक्रमण कार्यमें सफल हो जाता और कभी विफल ही रह जाता था। बस इससे अधिक और कुछ नहीं होता था। मार-धाड़की इसी साधारण कार्रवाईके बाद झगड़ा शान्त हो जाता था। परन्तु आधुनिक समयमें जातीयताका विचार या भाव समस्त संसारमें राज्य करने लग गया है; और इसी कारण जब एक विशेष जन-समूह, अर्थात् एक विशेष जाति—दूसरे जनसमूह पर अर्थात् दूसरी जाति पर आक्रमण करता है, तब अपने स्वार्थके सिद्धान्तको एक धर्म्मपूर्ण कर्त्तव्य समझकर करता है। इसका यही कारण है कि यह जातीय स्वार्थ महत् और विशाल समझा जाता है। यह प्राचीन कालका सा साधारण आक्रमण नहीं होता कि जिसके द्वारा केवल छोटी मोटी लूट-खसोट हो जाय; बल्कि यह वह आक्रमण होता है कि जो मनुष्यत्वके अन्तर्गत मर्म्मों तकको नष्ट कर देता है। जातीयताका यह विचार, राष्ट्रीयताका यह आदर्श अनजानमें ही मनुष्योंके मस्तिष्कमें धर्म्मनीतिके विरुद्ध खड़े होनेके भावका संचार कर देता है। क्योंकि उसको बारम्बार ऐसी शिक्षा दी जाती

है, और वह भी ऐसी ऐसी चालाकियोंके साथ दी जाती है, कि जिससे उसके हृदयमें यह भाव दृढ़तापूर्वक अंकित हो जाता है कि व्यक्तित्वकी अपेक्षा जातित्व कहीं विशालतर है। मनुष्यकी अपेक्षा उसकी जाति गुरुतर है। लेकिन फिर भी यह जाति उस धर्म्मनीतिको, अन्तरात्माके उस आदर्श भण्डारको जिसको मनुष्य पवित्र समझते हैं, हवामें उड़ा देती है।

ऐसा कहा जाता है कि जब मनुष्यका मस्तिष्क अधिक पीड़ित और विक्षिप्त होता है, तब उसके शरीरका रोग बहुत भयानकऔर तीव्र हो जाता है। क्योंकि मानव शरीरमें मस्तिष्क ही रोगके आक्रमणसे सदा उसकी रक्षा करता है। जातीय स्वार्थता भी मानव समाजका वह मानसिक रोग है जिसके वेग और प्रकोपसे उत्तेजित होकर लोग नेत्रोंसे लाल अङ्गारे बरसाते, क्रोधमें मुट्ठियाँ तानते, अनाप-शनाप बकवाद करते और विचित्र चेष्टाएँ दिखाते हैं; हालाँ कि वे इन कुत्सित कृत्याके द्वारा जातित्व रूपी देहके रोगको बढ़ाकर उसको नष्ट करते जा रहे हैं। केवल आत्मोत्सर्गकी शक्ति, सहिष्णुता और सहयोगका आध्यात्मिक समाजकी अन्तर्गत पुष्टिको बनाये रखनेवाले संरक्षक हैं। समाजका कर्त्तव्य यह है कि वह अपने चारों ओरके पदार्थों और अपनी परिस्थितियोंके साथ शुभ और मंगलदायक सम्बन्धके सामंजस्यको बनाये रखें। परन्तु जब कोई समाज इस विश्वव्यापी आध्यात्मिक धर्म्म-नीतिको भूलता और उसको केवल थोड़ेसे स्थानमें, अर्थात् केवल अपनी जातिकी ही संकुचित सीमा तक प्रयोगमें लाता और इतर जातियोंके साथ उसको काममें लानेसे पराङ्मुख होता है, तो फिर उस समाजकी शक्ति वैसी ही हो जाती है जैसी मनुष्यके शरीरमें सन्निपात और वायु-प्रलापके समय होती है और जिससे शरीरको लाभ नहीं किन्तु हानि ही पहुँचती है और अंतमें वह शरीर ठंढा हो जाता है।

इस पर भी तुर्रा यह है कि जातियोंकी यह नैतिक धृष्टता जिसको वे 'देशभक्ति' 'राष्ट्रभक्ति' या 'हुब्बुलवतनी' के सुन्दर नामोंसे पुकारते हैं, घमंड और निर्भीकताके साथ संसारमें बराबर चली चलती है और पवित्र भावोत्पादक कहलाती है। इस प्रकार इस नैतिक धृष्टताने अखिल जगत्में अपनी विषैली छूत फैला दी है और इससे जो ज्वर और प्रलाप उत्पन्न होते हैं, वे समाजके स्वास्थ्य या आरोग्यताके चिह्न समझे जाते हैं। कई ऐसी जातियोंके हृदयोंमें भी जो स्वभावसे ही दूसरों पर आक्रमण या अत्याचार करना नहीं जानती थीं, इस बातकी ईर्ष्याका भाव उत्पन्न हो गया है कि हमारी पड़ोसी जातियोंका सा जातीय ज्वर और प्रलाप हमको क्यों नहीं हो रहा है, हम भी दूसरी जातियोंकी नाईं उतनी ही दुष्टता क्यों नहीं करतीं और स्वयं दुःख क्यों उठाती हैं।

मेरे कई पाश्चात्य मित्रोंने मुझसे पूछा है कि इस जातीयता रूपी विशूचिका या आपत्तिका, जिसकी कुत्सित शक्ति इतनी बढ़ गई है और जिसका प्रसार इतना अधिक हो गया है, दमन अथवा चिकित्सा यदि की जाय तो किस प्रकार की जाय। बल्कि मुझ पर बहुधा ऐसा दोषारोपण हुआ है कि मैंने इस बीभत्स उत्क्रान्तिकी निरी चेतावनी ही दी है, परन्तु इससे बचनेका कोई उपाय नहीं बताया है। परन्तु मुझे यह कहना पड़ता है कि हम लोगोंको आजन्म ऐसी शिक्षा मिलती है कि हम लोग रस्मरिवाजकी, पुरातन प्रणालीकी, पुरानी व्यवस्थाकी, सदासे चले आये हुए नियमोंकी पूजा करें। हमको पुरानी पद्धतियोंके पूजनेकी बान पड़ गई है और इस अन्ध-भक्ति या अन्ध-पूजामें हमारा मिथ्या विश्वास खूब बढ़ा हुआ है। इसी लिए जब हम एक प्रकारकी नीति, प्रणाली अथवा पद्धतिके फलसे कष्ट उठाते हैं, तब हमारा वही मिथ्या विश्वास करनेका स्वभाव हमें भरोसा दिलाता है कि किसी दूसरी

नीति या प्रणालीसे हमारा कल्याण न होगा। परन्तु हम इस सरल—सीधे सादे—सत्यको भूल गये हैं कि सभी प्रकारकी प्रणालियाँ शीघ्र या देरमें बुराई उत्पन्न करती हैं; क्योंकि जिन सिद्धान्तोंके द्वारा वे प्रणालियाँ प्रपन्न की जाती हैं, वे स्वयं पहले-से ही अशुद्ध हैं। वही प्रणाली हमें लाभ पहुँचा सकती है जो अच्छे सिद्धन्तोंको अपनी जड़ बनाती है। एक प्रणाली जो आजके दिन केवल एक जातिकी है, कदाचित् भविष्यमें अन्तर्राष्ट्रीय हो जाय, उसको कई जातियाँ काममें लेने लग जायँ। ऐसा होना बिलकुल सम्भव है। परन्तु जब तक मनुष्य अपनी इन्द्रियोंसे उत्तेजित किये गये कमीने और कुत्सित विचारोंकी पूजा करना नहीं छोड़ेंगे—जब तक घमंड, लालच और ईर्ष्या आदि दुर्गुण हमारे स्वभावमेंसे नहीं निकवेंगे—हम लोगोंके आत्मोत्सर्ग परसे अपना अधिकार नहीं उठावेंगे—तब तक जो कोई नवीन प्रणाली काममें लाई जायगी, वह मनुष्यके लिए एक नूतन कष्ट पहुँचानेका हथियार बने बिना नहीं रहेगी। यदि वह नवीन नीति इतना भी नहीं करेगी तो भी वह कमसे कम मनुष्य जातिके लिए कोई लाभ या हित तो नहीं पहुँचावेगी। हमें ऐसी ही शिक्षा मिली है, हमें ऐसा ही उपदेश हुआ है कि जिसके कारण हम भली प्रणालीको स्वयं भलाई समझ लेते हैं। यद्यपि स्वयं भलाई और एक भली प्रणालीमें, जिसके विषयमें हमारी अन्तरात्मा ऐसा नहीं कह सकती कि वास्तवमें वह भली है या नहीं, बहुत अन्तर है। जैसे जैसे कल्पित भली प्रणालियाँ नष्ट-भ्रष्ट प्रतीत होती जाती हैं, वैसे वैसे हमारा धर्म्म-नियम परसे विश्वास भी उखड़ता जाता है।

इसलिए मेरा किसी व्यवस्था, परिस्थिति, रीति या प्रणालीमें विश्वास नहीं है; बल्कि मेरा विश्वास यही है कि उन स्थिर और गन्दे जलाशयोंका मैला पानी निकालकर उनको स्वच्छ कर देना

चाहिए जिनसे जहरीले वाष्प उत्पन्न होकर उड़ते हैं। इसी प्रयत्नसे—सत्य द्वारा असत्यको जीतनेसे—मनुष्य और उसके समाजका कल्याण होगा, न कि प्रकारों और संस्थाओंमें परि-वर्त्तन करनेसे। इसके हेतु हमें संसारके उन समस्त महानुभाव व्यक्तियोंकी आवश्यकता है जो स्वच्छतासे विचार करें, उदारता और सहानुभूतिमें लिप्त रहें और सत्यसे काम करते हुए विश्व-व्यापक आध्यात्मिक सत्यको संसारके समस्त भागोंमें नहरें बनकर बहा ले जायँ। क्योंकि यदि यह सत्य एक बार सारे संसारमें प्रवाहित और प्रचलित कर दिया जाय, तो यह स्वतः ही अपनी सजीवित रचनाके कारण प्रतिघातों पर विजयी होता हुआ प्रसार करता चला जायगा। हमारे आध्यात्मिक आदर्श छेनियों और हथौड़ोंसे काम नहीं करते, बल्कि जिस प्रकार किसी उर्वरा भूमिमें जीवित बीज अपनी जड़ें जमाते हुए अपनी शाखाओं और प्रशा-खाओंको आकाशमें बिना नकशे बनानेवाले कारीगरोंकी सहायता या सम्मतिके फैलाते चले जाते हैं, उसी प्रकार वे भी वृक्ष बनकर अपना प्रसार—अपनी डालों और टहनियोंका फैलाव—आप करते चले जाते हैं। जो कुछ आवश्यकता है वह विचार, भाव और अभिलाषाकी पवित्रताकी है। अवशिष्ट कार्य अपने आप होता चला जायगा।

यही कारण है कि जब मैं जापानमें मांस्योर रिचर्डसे मिला और मैंने उन बृहत् प्रस्तावोंको देखा जिनकी रचना वे विस्तृत राज-नीतिक संसारमें शान्तिका युग स्थापित करानेके हेतु कर रहे थे, तब सभ्यताके श्रेष्ठतर युगके आगमनके विषयमें मेरे हृदयमें उस समयके विचारसे उच्चतर विश्वास हो गया। हमारा अर्थात् समस्त संसारके मनुष्योंका कल्याण गणना या विस्तार पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु उस सत्य पर निर्भर है जो अल्प सा दिखाई देता

है। जब योरपके महासंग्राममें नाशकी विशाल शक्तियाँ अपने भयानक क्रोधका तमाशा दिखा रही थीं, उस समय मैंने इस अकेले फ्रांसीसी युवकको देखा था जो संसारमें कुछ भी प्रख्यात नहीं था, परन्तु जिसका मुखारविन्द नवीन दिनोदयके प्रकाशसे चमक रहा था और जिसकी वाणी नवीन जीवनके सन्देश—बधाई—से पुलकित हो रही थी। मुझे विश्वास हो गया कि यद्यपि राजनीतिक ज्योतिषियोंके पंचाङ्गों, पत्रों अथवा जन्तरियोंमें भविष्यका विशाल 'कल' नहीं लिखा गया है, परन्तु संसारमें तो वह महान् 'कल' अभीसे आ गया है।

जनवरी १७, १९१७ | रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

विषय-सूची ।

विषय पृष्ठ

पहला खण्ड ।

दूसरा खण्ड ।

—:○:—

ज्योतियोंको सन्देश

पहला खण्ड ।

गत कलका झूठ ।

और यदि अब सत्य कहा जाय तो कैसा हो......? यदि इस धोखे और विश्वासघातके संसारमें हम स्पष्टवादका सहारा लें और सब बातचीत जैसी वह वास्तवमें है, ठीक वैसी ही समझ लें तो कैसा हो? वास्तविक बातें चाहे अच्छी हों या बुरी, परन्तु उनको यदि हम उधेड़कर देख लें तो कैसा हो?

क्या उन मनुष्योंकी संख्या जो अन्धकारको प्रकाशकी अपेक्षा अधिकतर पसन्द करते हैं, अब भी अधिक है? धोखा देनेकी कार्यवाहीको हम उन्हीं लोगोंके लिए छोड़ते हैं जो इसको दिन-दहाड़े करते हैं। ऐसे लोगोंका जीवन धोखे और झूठ पर ही पूर्ण रूपसे अवलम्बित है। परन्तु दूसरे लोग तो इस धोखेबाजी और झूठसे मर रहे हैं—बल्कि वे तो उससे मरनेसे भी घबरा गये और थक गये हैं। वह दिन आ रहा है—बल्कि अभी आ गया है—जब लोग दमदिलासों और दगाबाजीके चकमोंसे घबरा कर—परिश्रान्त होकर—

सत्यपरायणतामें अपना कल्याण ढूँढ़ेंगे। वह दिन आ रहा है जब कि मनुष्य, कसाईखानेमें जैसे भेड़ बकरे कटनेके लिए ले जाये जाते हैं, उस प्रकार घसीटे जानेसे थककर सत्यके अनुयायियोंको अपना नेता या अगुवा बनाकर अपना मार्ग आप ढूँढ़ेंगे।

महासंग्रामने अपनी तोपोंके कान फाड़नेवाले नादके द्वारा सत्यका उच्चारण कर दिया है। अब भविष्यमें कौन बहरा रह सकता है ? बधिरसे बधिर मनुष्य भी ऐसे घोर शब्दको सुने बिना नहीं रह सकता। यह शब्द समस्त प्रकारके झूठोंका, जो शान्तिमें छिप रहे थे, नष्ट कर रहा है।

बड़ी जातियाँ छोटी जातियोंके साथ स्वेच्छाचारपूर्ण व्यवहार कर रही थीं, और इसी दशाका नाम शान्ति था। बड़ी जातियाँ अपने आपको उसी समय शान्तिप्रिय कहा करती थीं जब वे अपनेसे अधिकतर शक्तिमती जातिसे युद्ध करनेकी इच्छा न करके सबसे अधिक शक्तिहीन जातिके साथ (जिससे कोई विशेष भय भी न हो) लड़ाई करके अपने आपको सन्तुष्ट कर लेती थीं। वाह! वाह! क्या अच्छी धर्म्मनीति है कि अपनेसे दुर्बल जातिको हड़प लें और फिर इस बातका नक्कारा बजावें कि हम शान्ति स्थापित करना चाहते हैं और छोटी जातिको हमने इन्हीं वास्ते अपने अधिकारमें कर लिया है कि हम उस जातिको उन्नत बनावें!

घटनाओंने अब उन बड़ी जातियोंको यह पाठ पढ़ा दिया है कि इस प्रकारकी कार्यवाही भविष्यमें नहीं हो सकेगी। क्योंकि बलहीन जातिके साथ संग्राम करनेका परिणाम और फल यही हो सकता है कि पीछेसे शक्तिमती जातियोंके साथ युद्ध ठनें।

न्याय, इन्साफ ऐसा ही होना चाहता है। यह संसार एक सीमासे घिरा हुआ और संकुचित गोलचक्र या वृत्त है।

इसमेंकी प्रत्येक वस्तु टक्कर खाकर पुनः इस प्रकार उछला करती है जैसे फुटबाल धरतीसे टकराकर पुनः ऊपरकी ओर उछलता है। संसारमें, इसी कारण, प्रत्येक कार्यका परिणाम उन्हींपर आकर होता है जिन्होंने उस कार्यको किया है। जो कोई अच्छा या बुरा कृत्य करता है, उसका ठीक वैसा ही अच्छा या बुरा परिणाम उस कृत्यके करनेवाले पर होता है। यही इस संसारका एक अटल नियम है। संसारमें नष्ट कुछ भी नहीं होता। नाश हमारे अज्ञानके कारण उत्पन्न एक भ्रम है। परन्तु वास्तवमें जो हमें नष्ट हुआ दिखाई देता है, वही वापस लौटकर हमारे सामने आता है। विज्ञान (कैमिस्ट्री और फ़ीजिक्स) इस सिद्धान्तको खूब पुष्ट करता है कि जो कुछ हमारी बाह्य दृष्टिमें नष्ट होता दिखाई देता है, वह वास्तवमें नष्ट नहीं होता बल्कि किसी दूसरे रूपमें परिणत हो जाता है। एक प्रहारसे दूसरा प्रहार उत्पन्न होता है—एक टक्कर से, उसी फुटबालके दृष्टान्तके अनुसार, दूसरी टक्कर उत्पन्न होती है। शक्ति उसी प्रकार अपने सन्मुख शक्तिको बुलाती है जिस प्रकार बादलकी एक कड़कड़ाती बिजली दूसरे बादलकी कड़कड़ाती हुई बिजलीको अपने पास बुलाती है। बस ठीक यही कारण है कि अब वही अत्याचार और आपत्तियाँ योरपको झेलनी पड़ी हैं, जिनमें योरपने कई बार और कई स्थानोंमें दूसरी जातियोंको फँसाया था।

योरपमें भयंकर और अँधेरा बादल छा रहा था। जिस बादलको योरपवालोंने स्वयं अपने सिरपर इकट्ठा किया था, वह बादल यदि उन लोगोंकी दृष्टिमें आरम्भसे ही नहीं आया, तो यह कहना पड़ेगा कि वे लोग बड़े अन्धे थे।

यदि इस दृष्टिसे देखा जाय तो योरपके महासंग्राममें सम्मिलित होनेवाली जातियोंमेंसे कौन सी जाति न्यायपूर्वक कह सकती

है कि "मैं निर्दोष हूँ" ? वह कौन सी जाति है जिसके हाथ रुधिर-से नहीं रँगे हुए हैं ? हाय ! एक भी नहीं !

जो जातियाँ इस संग्राममें सम्मिलित हो रही हैं, उनमेंसे प्रत्येक जाति, यदि वह अपने अपने न्याय-विचारके पक्षपातसे पृथक् होकर क्रमशः उन घटनाओं और परिस्थितियोंको समझे, जिनके कारण यह संग्राम आरम्भ हुआ है, तो वह भली भाँति जान सकती है कि स्वयं मेरे ही कृत्य इस झगड़ेको उत्पन्न करनेमें कितने न्याय-संगत, उचित और कठोर कारण बने थे ।

एक छोटा सा उदाहरण है । मोरक्कोका युद्ध क्या ट्रिपोलीके युद्धका बिलकुल उचित कारण और परिणाम नहीं था ? इसी युद्ध-के कारण तुर्की शक्तिहीन बना, जिसका फल यह हुआ कि बाल-कनके प्रान्त तुर्कीके हाथसे निकल गये । इनके स्वतंत्र होनेके कारण ही आष्ट्रिया और रूसमें परस्पर इतना वैमनस्य बढ़ा कि वे एक दूसरेका गला दबाने लगे और अन्तमें समस्त योरपमें संग्राम छिड़ गया ।

योरपकी कई ऐसी जातियाँ भी हैं जो बाहरसे नितान्त निर्दोष और भोली भाली दिखाई देती हैं; मानो वे युद्धका आरम्भ कराने-की उत्तरदायी हैं ही नहीं । परन्तु वास्तवमें वे भी उत्तरदायी हैं । यह सत्य है कि कई जातियाँ शक्तिके स्वत्वको प्रयोगमें लाती हैं और कई स्वत्वकी शक्तिको काममें लाती हैं । अब उनके मुँहसे चाहे जैसी नीतियोंके सिद्धान्त निकलें, परन्तु उनके बाजकेसे पंजे तो उस जीते जागते शिकारको पकड़े हुए ही दिखाई देते हैं, जिसके लिए वे आपसमें ही एक दूसरेका गला घोट रही थीं । मनुष्य अपने मुँहसे चाहे जैसा अच्छा सिद्धान्त प्रकट किया करे, परन्तु जो हिंसक कार्य वह करता है, उसको देखकर तो हम जान सकते हैं कि वह दुष्ट-हृदय है या साधु स्वभावका । इन जातियोंकी

बात सुनी जाय तो बड़ा अचम्भा होगा। वे कहती हैं कि इस समय पददलित, परतन्त्र, गरीब जातियोंके पक्षमें, उनकी रक्षा करनेके लिए जितनी जातियाँ इस महासंग्राममें खड़ी हुईं, उतनी आज तक कभी खड़ी नहीं हुई होंगी। प्रत्येक जाति कहती है कि "छोटी और पीड़ित जातिको दूसरी जातियोंके अत्याचारपूर्ण आक्रमणसे बचाने और उसका उद्धार करनेके निमित्त ही मैंने अपना पैर रणक्षेत्रमें रखा। किसी प्रकारके स्वार्थ या लाभसे उत्तेजित होकर मैंने लड़ाईके लिए आस्तीनें नहीं चढ़ाईं"। जर्मनी और रूस स्पर्धा करते हैं कि "देखो हममेंसे कौन पोलैंड, आयर्लैण्ड, सर्विया, ईजिप्ट, बेलजियम और हिन्दुस्थान आदि देशों और उनमें बसनेवाली जातियोंका उद्धार कर सकता है"। कई जातियाँ उक्त देशोंके सम्बन्धमें मनमाने मन्सूबे बाँधकर कह रही हैं कि "हम इनका कल्याण करेंगी"। और उनका ऐसा कहना वास्तवमें सच भी है; क्योंकि यही पंच बननेवाली जातियाँ, दयाके सागर, न्यायकी मूर्तियाँ, धर्म्मकी ध्वजाएँ इन देशोंको अत्याचारोंसे बचाकर स्वतंत्र करना चाहती हैं; और साथ ही आपसमें एक दूसरीको भी मारकर चट करनेके लिए उनके मुँहसे पानी गिर रहा है। वाह! वाह! क्या अच्छा न्याय, क्या अच्छा धर्म्म, क्या अच्छा सिद्धान्त है!

बस यही बात इस संग्रामकी जड़ है—यही खोटा सिद्धान्त इस संग्रामका कारण है। कई जातियाँ चाहती थीं कि यह युद्ध ठने और उससे हमारा कुछ मतलब बने; और कई यह भी चाहती थीं की युद्ध न हो और यों हीं काम बन जाय। परन्तु बात ज्योंकी त्यों रही। इस घमासानके निमित्त तैयारियाँ सब कर रही थीं। सेनाएँ तैयार की जा रही थीं और मनुष्योंको मारनेके लिए—सब जगह जल, थल और वायुमें मारनेके लिए—नये नये अस्त्र शस्त्र

बनानेमें सब जातियाँ ठीक उसी प्रकार लगी हुई थीं जिस प्रकार मुरगियाँ अंडे सेनेमें लगी रहती हैं। उन्होंने यही तैयारियाँ करके ऐसी व्यवस्था उत्पन्न कर दी कि संग्रामका होना किसी प्रकार टल ही नहीं सकता था।

स्वार्थपूर्ण राजनीतिका, लोभपूर्ण अन्यायका, स्थूल और सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिए उत्सुकताका निश्चित और न्याय-संगत परिणाम इसके सिवा और क्या हो सकता था? निर्लज्जता-पूर्ण पापों और पाखंडोंका फल इस संग्रामके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता था? कोई दिन दहाड़े और कोई चुपके चुपके काम कर रहा था; परन्तु अभीष्ट सबका यही था कि "संग्राम हो और हमें कुछ मिले।" सबके सिर पर वही संग्रामका भूत चढ़ रहा था और वह अपनी बुभुक्षा शान्त करनेके निमित्त उसी एक शिकार-को हड़पनेका अवसर ताक रहा था। भोलेसे भोला मनुष्य भी समझ सकता है कि जो क्रूर जर्मनी सौ वर्षसे अपने यहाँके प्रत्येक बच्चेको तलवार और बन्दूक चलाना अनिवार्य रूपसे सिखा रहा था और मशीन गनें, हावीजर आदि तोपें, गोतेखोर जहाज और अनेकानेक भीषण संहारक यंत्र बना रहा था, उसका इसके अतिरिक्त और क्या प्रयोजन हो सकता था कि एक दिन मुझे अनुकूल अवसर मिले और मैं एलसेस लोरेन, पोलैंड, बालकनके प्रान्त, तुर्की, फारस, अफ़गानिस्तान, बलूचिस्तान, चीन, हिन्दुस्तान, मिस्र और आयर्लैंडको तो कमसे कम निगल जाऊँ—अजगर-की नाईं एक ही झपट्टेमें अपने विशाल, खाली और दग्ध उदरमें उनको रख लूँ और टससे मस भी न होऊँ?

यह संग्राम उन जातियोंकी ओरसे है जो बलपूर्वक आक्रमण करके जितनी मिल सके, उतनी ही भूमि अपने अधिकारमें कर लेनेके लिए छटपटा रही हैं; और उन जातियोंके साथ है जो बहुत

सी भूमि पहलेसे दबाकर अघा गई हैं। दोनों ओरकी जातियोंकी जठराग्नि समान नहीं थी। उनमें अन्तर था। खाने और पचानेकी शक्तियाँ भी दोनों ही ओर एक समान नहीं थीं। परन्तु दोनों हीने अभ्यास करके अपनी खाने और पचानेकी शक्तियोंको बराबर कर लिया है और इसलिए दोनों एक ही शिकार पर उतर पड़ी हैं। पृथ्वी हम लोगोंकी दृष्टिमें बहुत बड़ी है; परन्तु इनके पेटकी आगको देखते हुए कुछ भी नहीं है। जमीनका बड़ा भारी गोला उनको एक छोटासा लड्डू दिखाई देता है जिसको खानेसे उन बेचारियोंका पेट नहीं भर सकता। इसलिए अब वे एक दूसरीको ही अपना आहार बनाना चाहती हैं। वे आपसमें ही एक दूसरीको निगलनेके लिए अपना भयंकर मुँह फाड़ रही हैं।

दोनों ओरकी जातियोंने समय समय पर पृथ्वी पर जो लूट खसोट की थी, उसके आखिरी निबटारे, अन्तिम निर्णय करने और हिसाब-किताब चुकानेके लिए, योरपकी शक्तिमती जातियोंकी भूख मिटानेके लिए, मत्ततासे उत्पन्न तृष्णाको बुझानेके लिए और अन्तिम झगड़ा चुकानेके लिए ही यह संग्राम ठना है। इसीमें उनके स्वेच्छाचारका, मतवालेपनका, इन्द्रिय-लोलुपताका खेल समाप्त होगा।

यह वह पाठ है—यह वह सबक है—जो इस समयकी जातियाँ भविष्यकी जातियोंको पढ़ा रही हैं। यह युद्ध बतलाता है कि "लज्जाका, नाशका और मृत्युका यह मार्ग है। इससे बचो।"

और यह भी स्मरण रहे कि इस संग्रामकी यही एक शिक्षा नहीं है, बल्कि और भी बहुत सी शिक्षाएँ हैं।

आजका श्रम ।

इस संग्रामका होना अनिवार्य ही नहीं वल्कि आवश्यक भी था; और यह कहा जा सकता है कि भविष्यकी इच्छा थी कि ऐसा ही हो । योरपके आकाशमें अगणित असत्य कीड़ोंकी नाईं कुलबुला रहे थे । उस आकाशको स्वच्छ, पवित्र और कृमिशून्य करनेके हेतु यह अत्यन्त आवश्यक हो गया था कि वहाँकी राष्ट्रीय नीति—सार्वभौमिक और औप-निवेशिक राजनीतिका दिवाला निकल जाय ।

योरपकी महती जातियोंका इस प्रकार संग्राममें नष्ट होना इसलिए आवश्यक नहीं था कि उनमेंसे एक विशिष्ट शक्तिमती जाति संसारकी इतर जातियोंको लाभ पहुँचावे और उनको स्वतन्त्र कर दे, किन्तु इसलिए आवश्यक था कि संसार उस कुत्सित मानसिक दशासे बचाया जाय जो सर्वत्र अपना राज्य करने लगी थी । आत्मश्लाघाकी ईप्सा करनेवाली घमण्डी और झूठी सभ्यताका पतन इसलिए आवश्यक था कि मानव-जीवनकी आध्यात्मिक उन्नति करनेका प्रयत्न 'व्यापारत्व' और वर्बर "मशीनशाही" से जिनके मारे यह प्रयत्न अन्दर बन्द पड़ा रहता था, बच सके और 'मनुष्यत्व' आगे बढ़ सके । भौतिक प्राप्तियों—सांसारिक विलासिताके द्रव्योंकी उपलब्धिने मनुष्यत्वको आध्या-त्मिक उन्नतिको कूड़े करकटकी भाँति कोनोंमें फेंककर जातियों और राष्ट्रोंको केवल व्यापार-धन्धोंमें रत रहने और मशीन चलाने-के लिए कठपुतली बना दिया था । इन कठपुतलियोंमें पुनः पवित्र

प्राणका संचार कराके उनको मानवात्मज बनानेके लिए यह युद्ध अनिवार्य था।

इस नरककी—इस हत्याकांडकी, महती उपयोगिता यह थी कि वे जातियाँ जिन्होंने इस व्यवस्थाका आरम्भ कराया, अपनी विचारशैली बदल दें। इस भयंकर गड़बड़ीकी इसलिए जरूरत थी कि पुरानी निकम्मी और हानिकारक व्यवस्थामेंसे एक नूतन प्रकार, एक नवीन पद्धति, एक नया स्वर्ग और एक नई मेदिनी उत्पन्न हो जाय।

संग्रामके वास्तविक मूल या कारण यही हैं, न कि वे जिनके लिए युयुत्सु जातियाँ झगड़ रही हैं।

इनमेंकी प्रत्येक योद्धा जाति अपनी ही जीत, अपनी ही विजयमें विश्वास रखती है। प्रत्येक योरपीय राष्ट्र मान रहा है कि "विजयश्री मेरे मस्तक पर विराजती है—जयमाला मेरे ही गलेमें पड़ी है"। बस यही आजका भ्रम, यही आजका धोखा है। जिस संग्राममें दोनों ओरके योद्धा पूर्णतः परिश्रान्त और नष्ट भ्रष्ट हो जायँ, उसमें "जय" का क्या अर्थ हो सकता है? इस व्यवस्था को दोनों ओरका पराजय ही कहना पड़ेगा। जितने अधिक समयतक रुधिर और सुवर्ण-तन और धन-का नाश होता रहेगा, जितना ही अधिकतर जीवनकी शक्तियोंका प्रवाह जारी होगा, उतना ही 'विजय' शब्दका अर्थ निरर्थक और असत्य होता चला जायगा।

दोनों ओरके समस्त योद्धाओंकी पूरी पूरी हार करानेके लिए दोनों ही ओरको कितनी जानें होनी चाहिएँ, यह सहजमें विचारा जा सकता है। दोनों ही दल अपनी जीतकी चाहे कितने ही उच्च स्वरसे दुन्दुभी बजावें,—चाहे कितने ही समाचारपत्रों और पत्रिकाओंमें अपनी विजयके फड़कानेवाले गीत, मोहित करनेवाले

सुन्दर चित्र, चुहचुहाती भाषामें अलंकृत लेख, और सुनहले अक्षरोंमें विजयकी घोषणा प्रकाशित कराके अपनी सफलताके चाहे जैसे तड़कीले भड़कीले, जलसे, दावतें, रंगराग, नाचकूद करावें—परन्तु वे इस वास्तविकतामें लेश मात्रका भी अन्तर नहीं ला सकते कि यह सार्वजनिक और सर्वव्यापी आत्मघात ज्यों ज्यों आगे बढ़ता जाता है, त्यों त्यों इन सबको नष्ट किये जाता है। वे स्वयं अपनी छातियोंमें पैनी छुरियाँ भोंक रहे हैं, क्योंकि इस संग्रामका एक एक दिन—(इससे चाहे किसी दलको लाभ पहुँचे या हानि)—सबके लिए एक नवीन नाश—नूतन विपत्ति उत्पन्न कर रहा है।

इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि समस्त संसार पर साम्राज्य और अधिकार जमा लेनेका जो कई जातियोंका मिथ्या अहंकार है, वह काँचकी तरह टूट जायगा। बल्कि निश्चित रूपसे यह भी भविष्यद्वाणी की जा सकती है कि इस समय सब जातियाँ जो हवाई किले बना रही हैं, जो सुखस्वप्न देख रही हैं, वे सब नितान्त व्यर्थ और निरर्थक प्रमाणित होंगे।

इस युद्धके वास्तविक लाभ और विजय वे नहीं हैं जिनके प्राप्त करनेके लिए युद्ध करनेवाली जातियाँ लालायित हो रही थीं; बल्कि इससे यह लाभ होगा कि इन सब जातियोंके सम्मिलित नाशसे मानव-जातिकी उन्नति और भी निश्चित हो जायगी।

इधर तो लड़नेवाली जातियोंकी सरकारें अपनी अपनी प्रजाके मनमें "हमारी जीत" का भ्रमपूर्ण भाव दृढ़तापूर्वक जमा रही हैं; और इधर वे स्वयं अपने आपको और भी बढ़िया धोखा दे रही हैं कि संग्रामके आरम्भ होनेसे पहले जो अवस्था थी, और लोगोंके मस्तिष्कोंकी जो दशा थी, वही इस संग्रामकी समाप्तिके पश्चात् फिर लौट आवेगी। वे सरकारें अपने अपने मनको इस झूठी

आशासे हर्षित कर रही हैं कि इस अद्भुत और विशाल युद्धके पर्यवसानके पश्चात् प्रजा फिर अपने अपने क्षुद्र काम-काज और धन्धों—व्यापारोंमें लग सकेगी। वे यही समझे हुई हैं कि आनेवाले कलके दिन भी हम वही शान्ति प्राप्त कर लेंगी जिसे हमने गत कलके दिन स्थापित करके रख छोड़ा था। परन्तु उनका यह विचार बड़ा ही भ्रममूलक है। वे इस मिथ्या विश्वाससे अपनी अन्तरात्माको उतना ही धोखा दे रही हैं जितना धोखा उन्होंने इस युद्धकी तैयारियाँ करते समय यह सोचकर खाया था कि "हम जबतक चाहेंगे, तबतक इस युद्धको होनेसे टाल सकेंगे"।

जो कुछ था और जो कुछ भविष्यमें होगा, उसके बीचमें बहुत बड़ा अन्तर उपस्थित हो गया है। जो व्यवस्था भविष्यमें होगी, वह युद्धकी पूर्वकालीन व्यवस्थासे नितान्त भिन्न होगी। नई और पुरानी दशाओंमें रात-दिनका अन्तर हो जायगा। जो धारा बह गई है, वह पुनः नहीं आवेगी। जो सरकारें इस सत्यको नहीं मानतीं, वे माया और भ्रमका आखेट बन रही हैं। वे सरकारें पुनः उस स्थानको—उस स्थितिको—कदापि प्राप्त नहीं होंगी जिसको प्राप्त होनेके लिए उनकी अत्यन्त अभिलाषा थी।

क्या लड़नेवाली जातियाँ समझती हैं कि जो आधुनिक घटनाएँ संसारको हिला रही हैं, वे भविष्यमें अपना परिणाम दिखाये बिना यों ही रहेंगी? क्या वे समझती हैं कि जो उत्तम अनुभव उन्होंने इस संग्राममें प्राप्त किया है, उनको लाभ पहुँचाये बिना यों ही रहेगा? और क्या इस सर्वोत्कृष्ट अनुभवका पाठ इतर जातियोंको भी बिना प्रतिफल प्राप्त कराये रहेगा? क्या वे सोचती हैं कि युद्धकालके इतने दुःख और क्लेश, इतने वीरत्व और आत्मसमर्पण, इतने अपराध और अत्याचार, जातियोंके इतने रक्तप्रवाह और अश्रुपात, इसके अतिरिक्त और कुछ भी

अच्छे प्रभावके जन्मदाता नहीं बनेंगे और उनको भविष्यमें भी वही स्वेच्छाचार करनेकी स्वतन्त्रता मिल जायगी जिसको वे गत कालमें प्राप्त कर चुके हैं ?

क्या वह कोढ़ जो इतने मनुष्योंको रुग्ण करके गिरा रहा है और क्या वह अपत्ति जो इतने पदार्थोंको मिट्टीमें मिला रही है, केवल उन विशिष्ट मनुष्यों और पदार्थोंको ही जो संग्राममें सम्मिलित हैं, नष्ट करके छोड़ देगी ? क्या वह हल जो धरतीको जोतकर, अच्छी और नवीन खेती उत्पन्न करनेके लिए तैयार कर रहा है, पुरानी खेतीके डंठलों और जड़ोंको उखाड़े बिना रहेगा ?

बस, काफी धोखे हो चुके। अब चकमेबाजीका अन्त आ गया। वह शान्ति जो आ रही है, वैसी नहीं होगी जिसकी स्वार्थी लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं। क्योंकि वह संग्राम जो ये जातियाँ आपसमें मचा रही हैं, वह संग्राम जिसको योरपकी शक्तिशालिनी सरकारें करा रही हैं, उस संग्रामसे भी ऊपर है जो भविष्यकी शक्ति इन सबके प्रतिकूल चला रही है।

यदि यह विशाल युद्ध सभी जातियोंके दोषोंका फल माना जाय तो इस संग्रामको उन शक्तियोंका भी सम्मेलन कहना उचित है जो सार्वजनिक उन्नतिके लिए अपना जोर मार रही हैं। जैसे पत्थर तोड़नेवाली मशीन पत्थरोंकी चट्टानों और भारी दीवारों आदिको तोड़ने फोड़नेके लिए काममें लाई जाती है, उसी प्रकार प्रकृतिमाता उन उन्नति-प्रेरक शक्तियोंको इस संग्राममें परिणत करा के भूतल पर रहनेवाली मानव जातिके कल्याणमें बाधा डालनेवाली चट्टानोंके सदृश भारी प्रतिघातोंको और दृढ़ दीवारोंके समान बड़े बड़े विघ्नोंको नष्ट या चूर्ण करवा रही है; क्योंकि उन प्रतिघातोंका पूर्ण रूपसे नाश करना अत्यन्त आवश्यक था। जिन्होंने संग्रामकी घोषणा की और रणभूमिमें पैर रखे, उन्होंने केवल अपने भाग्यकी

आज्ञा मानी थी। इस भाग्यने उनको अपराधी ठहरा दिया था। इनमेंसे कई जातियाँ सत्य और न्यायका नाम ले रही हैं, परन्तु इन पवित्र शब्दोंका अब उनके मुखोंसे उच्चारण होना वृथा है। वही सत्य और न्याय जिनका उल्लघन किया गया था, इन जातियोंको संग्राममें हाथापाई करनेके लिए दबा रहे हैं; और इसमें सन्देह नहीं कि रणभूमिसे ये जातियाँ अधिकतर सत्यवती और न्यायप्रिय बनकर निकलेंगी।

यह संग्राम किसी न किसी रूपमें फिर चलेगा। यदि आवश्यकता होगी तो फिर कोई दूसरा युद्ध ठाना जायगा या कोई और घटना उपस्थित होगी। और यही बात बराबर तब तक अवश्य होती रहेगी जब तक मनुष्यकी भ्रष्टताका भूत, जो वास्तवमें आधुनिक पारस्परिक नाशकारक समाज ही है, 'त्राहि त्राहि' नहीं करने लग जायगा। आजकलका जो सामाजिक संगठन है और जिसमें एक वर्ग दूसरे वर्गका नाश करके या उसे हानि पहुँचाकर अपना लाभ करना चाहता है, वह मनुष्यके धर्म्मको पीड़ित करनेवाला रावण है। जबतक यह रावण मृत्युके घाट तक नही पहुँचाया जायगा, तबतक एक न एक लड़ाई झगड़ा उपस्थित होता ही रहेगा। रावणकी मृत्युके बिना रामराज्य स्थापित नहीं हो सकता। और यह मारणप्रिया समाज-व्यवस्था तभी ठीक होगी, जब पारस्परिक सेवा और भ्रातृभाव पर निर्धारित रहनेवाली कोई नवीन समाज-रचना जन्म लेगी। यह सारे योरपकी आपसकी लड़ाई, यदि आवश्यकता हुई तो, योरपके प्रत्येक राष्ट्रकी भीतरी लड़ाई हो जायगी। कोई आश्चर्य नहीं, यदि यह संग्राम समस्त मनुष्य जातिको आपसमें भिड़ा दे। परन्तु जब तक जो होना चाहिए वह नहीं हो जायगा, जब तक अखिल मानव जातिकी अन्तरात्मा जाग्रत नहीं हो जायगी, तब तक यह संग्राम-वासना पूर्णतः शान्त नहीं होगी।

इस संग्रामको संघटित होनेसे कोई शक्ति या कोई पदार्थ रोक नहीं सकता था; क्योंकि अब ऐसा समय आ गया था कि यह संग्राम जगत्के घाव पर लाल और जलता हुआ लोहा रख दे। अब तक किसी पदार्थ या व्यक्तिको इसे रोकने या ठहरानेमें सफलता नहीं हुई है; क्योंकि यह कभी हो ही नहीं सकता था कि संसार वृथा ही कष्ट उठावे।

घटनाओंको इसी दृष्टिसे देखना चाहिए; तभी वे समझमें आवेंगी। प्रतिकूल और स्वार्थप्रचुर वासनाओं और पक्षपातोंका अन्धापन तभी दिखाई पड़ेगा। फिर समझमें आवेगा कि योरपके इस 'महाभारत'का अस्तित्व क्यों हुआ था और उसका प्रधान कारण क्या था। और यह भी समझमें आ जायगा कि यह व्यवस्था इतने समय तक क्यों ठहरी जितने समय तक ठहरनेकी बात कोई मान भी नहीं सकता था; और जिसके अन्तमें यह भीषण थकान क्यों आई जिसको कोई नहीं चाहता था।

जो कुछ अन्दर छिपा हुआ है, और जिसको ऊपरी दृश्यसे पृथक् समझकर अन्दर देखना चाहिए, वह समझमें आ जायगा। जो कुछ हमारी दृष्टिके बाहर जा रहा है, वह सदाके लिए चला जायगा; और इसके पश्चात् जो कुछ आ रहा है, जिसकी प्रतीक्षा हो रही है और जिसके लिए अभिलाषा की जा रही है, वह भविष्य शान्ति और भ्रातृभावको गलेसे लगाये हुए अपना शुभागमन कर रहा है। उसीके शक्तिमान् और जयशील पैरोंसे मेदिनीकी जड़ और नींव तक हिल रही है। यह परम आवश्यक आगमन अब सबकी समझमें अनायास ही आ जायगा।

आगामी कल (भविष्य)की वास्तविकताएँ।

रात्रिके प्रसारमें तड़केकी ओर—भोरकी तरफ—एक कदम आगे बढ़ना, अथाह गह्वर—गड्ढे—से उन्नत शिखरकी ओर जानेवाले कठोर मार्ग पर, जिसपर मानव जाति अपने खून बहते हुए पाँवोंसे चढ़ती है, एक पग आगे रखना, बस यही आनेवाला दिन, आगामी कल है, यही भविष्य है।

इसके विपरीत और हो ही क्या सकता था? निरा कमीना आशावाद और निराशावाद तो. जो कुछ वास्तवमें होगा, उसको देखकर अपनी आँखें बन्द कर लेता है। ये दोनों ही इतने प्रभावशाली या लम्बकाय नहीं हैं कि जो कुछ सामने आ रहा है, उसको अच्छी तरह नाप या समझ सकें। अर्थात् जो लोग पूर्ण आशासे हर्षित होकर उछल रहे हैं कि हमारा स्वार्थ, हमारा अभीष्ट अवश्य सिद्ध होगा, और जो लोग निराश हो रहे हैं कि हमारा कुछ भी भलाई नहीं होगी, ये दोनों दल—एक दल अपने अत्यन्त आह्लादके कारण और दूसरा अपने नैराश्यके दुःखके कारण—जो कुछ भावी है, उसको ठीक ठीक नहीं देख सकते। इस प्रकार ठीक ठीक अनुमान करने और जाँच लेनेका कार्य व्यक्तिगत या जातिगत स्वार्थकी लघु दृष्टिके बहुत बाहर है। जब मनुष्य किसी बहुत ही ऊँचे स्थान पर चढ़े, तभी उसके लिए यह सम्भव है कि वह बहुत दूर तक देख सके।

कल तक कदाचित् इस संग्रामका अन्त हो जाय। पर परन्तु यह संग्रामका अन्त होगा, न कि इस आपत्ति-कालका। इस भयंकर आपत्ति या अवस्थाका तो कदाचित् और भी विस्तार होगा। जब तक कोई बात या व्यवस्था अधिकसे अधिकतर न बिगड़े, तब तक उसके पूर्ण सुधारमें परिणत होनेकी तनिक भी आशा नहीं हो सकती। 'निकृष्टसे उत्कृष्ट उत्पन्न होता है।' महती भ्रष्टतासे महती उत्तमता जन्म लेती है। परन्तु अभी तक हम उस रसातल तक पहुँचे ही नहीं। यह संग्राम तो उस अधोगतिकी केवल पूर्वपीठिका है। इसके अन्तमें और चाहे जो कुछ हो, पर वह नहीं होगा जो अत्यन्त आवश्यक है। जो अत्यन्त आवश्यक है, वह तो बादमें आवेगा; और उसमें वही बातें, वही घटनाएँ होंगी जो इस युद्धके कार्यको समाप्त करनेके लिए आवश्यक होंगी और जिनका होना परम लाभदायक होगा।

निःसन्देह यह भी संभव था कि दुर्दैववश इन भावी घटनाओंके संघटित होनेसे पहले ही यह संग्राम समाप्त हो जाता। परन्तु यह कुअवसर उपस्थित ही नहीं हुआ। अबसे ऐसे बुरे अवसरका उपस्थित होना भी उतना ही संभव है, जितना स्वयं इस संग्रामका उपस्थित होना संभव था। और जैसे पहले इस संग्रामको बीचमें रोकने या समाप्त करनेके लिए कोई सुशक्त और सुयोग्य सामग्री नहीं थी, उसी प्रकार इन घटनाओंके संघटनमें भी कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। यह सब न्यायसंगत ही है। जो जो बातें होनेवाली हैं, उनमेंसे कुछके लिए तो इतने ही निश्चित रूपसे भविष्यद्वाणी की जा सकती है जितने निश्चित रूपसे इस संग्रामका अन्त बताया जा सकता है। क्योंकि वह अन्त................होगा। बस।

वास्तवमें संभावना है कि यह युद्ध उसी प्रकार एक दम थम जाय जिस प्रकार यह एक दमसे आरम्भ हुआ था। और यह भी

सम्भव है कि जिस समय यह बंद हो, उस समय किसीको पता भी न चले कि ऐसा क्यों और कैसे हुआ। यदि एक राजकुमारकी मृत्यु इस महायुद्धका आरम्भ करनेके लिये पर्याप्त थी, तो क्या आश्चय कि कोई न कोई घटना इसकी एक ऐसे दिन इति भी करा दे जिस दिन इसकी समाप्तिकी तनिक भी आशा न हो !

यह भी सम्भावना है कि यह युद्ध किसी प्रकार न थमे, जैसा कि कमसे कम साधारणतः समझा जाता है। और इसके पहले जो कुछ नाममात्रके लिए शान्ति थी, उसके स्थानमें भविष्यमें सब जगह एक ऐसी स्थायी और किसी न किसी अंशमें एक प्रभाव-शालिनी युद्ध-प्रचुर स्थिति खड़ी हो जाय जैसी कि लड़नेवाली जातियोंने अभीसे कर दी है। और इस समय जो अन्तर्राष्ट्रीय भयंकर संग्राम या स्थिति प्रादुर्भूत हो गई है, उसको कौन नहीं जानता ?

कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि जैसा अन्त और संग्रामोंका हुआ करता है, वैसा अन्त इस संग्रामका नहीं होगा। जो आधुनिक व्यवस्था है, उसीका अन्त इस संग्रामका अन्त होगा। इसमें बाल बराबर भी अन्तर नहीं पड़ सकता। जब तक केवल इस स्वार्थ-पूर्ण व्यवस्थाका ही नहीं, बल्कि इस बातकी संभावनाका भी अन्त न हो जायगा कि कहीं भविष्यमें इस व्यवस्थाके मुर्देमें फिर भी प्राण आ जायँ, तब तक यह हलचल अपने अन्तको नहीं पहुँच सकती।

मनुष्यमें पागलपन जितना शीघ्रतर आता है, उतना शीघ्रतर वह उसमेंसे जाता नहीं है। वह क्षण भरमें पागल हो सकता है, पर उसके अच्छे होनेमें बरसों लगते हैं। भाग्यने उन जातियोंमें, जो युद्ध करनेके लिए लालायित हो रही थीं, पागलपनका भूत भर दिया; क्योंकि वह योरपकी जातियोंका नाश करना चाहता था। और जो जातियाँ अब उनके साथ चलना चाहती हैं, उनके सिर

पर भी भाग्यने उसी भूतको सवार करा दिया है। इसलिए अब उन सबने आपसमें हाथ बाँध लिये हैं और पारस्परिक सन्धियाँ करके उन्होंने अपने आपको शान्तिके प्रतिकूल दृढ़तासे संयुक्त कर लिया है। अतः विपरीत शक्तियोंका तराजू इस प्रकार बीचमें ही ठहर गया है कि उसकी दृढ़ता पर किसी प्रकारके धक्केका प्रभाव नहीं पड़ सकता। अब कोई आघात दोनों पलड़ोंकी समानताको नहीं डिगा सकता। अर्थात् योरपकी छोटी मोटी रियासतें कुछ इस प्रकार दो भागोंमें बँट गई हैं कि एक ओरकी समस्त जातियोंकी शक्ति दूसरी ओरकी विपरीत शक्तिको हटा ही नहीं सकती। तराजूके दोनों पलड़े बराबरीमें खड़े हो गये हैं। इन सब शक्तियोंकी शृंखला कुछ ऐसी दृढ़ हो गई है कि इसकी कड़ियाँ जगह जगहसे भले ही टूट जायँ, परन्तु समस्त शृंखलाको कोई शक्ति नहीं हिला सकती। यह दृढ़ रचना बहुत समय तक चल सकती है।

इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिए कि जितने अधिक काल तक यह युद्ध चलता रहेगा, उतने ही अधिक कारण इस युद्धको चलता रखनेके लिए उत्पन्न होते चले जायँगे। कई जातियाँ तो जो कुछ उन्होंने प्राप्त कर लिया है, उसको छोड़ना न चाहेंगी; और कई जातियाँ जिन्होंने बहुत कुछ गँवा दिया है, अपना घाटा पूरा करनेके लिए अधिकसे अधिक प्रयत्न करती रहेंगी। इस प्रकार इस संग्रामके चलते रहनेका समय ही इसको और अधिकतर काल तक चलते रखनेका कारण बन जायगा। जितना अधिकतर यह ठहरेगा, उतना ही उसका अन्त समय देरमें आवेगा।

अभी तक स्थायी आशाओंका संग्राम है। यदि यह कभी स्थायी निराशाओंका भी संग्राम हो जाय, तो भी इसकी समाप्ति शीघ्र नहीं होगी।

इस घोर युद्धको चलता रखनेमें निःसन्देह केवल एक भारी रुकावट या बाधा थी। वह यह कि लड़ाईके लिए रुपये और सामान कहाँसे और कैसे प्राप्त होते रहेंगे। परन्तु अर्थ शास्त्रके सिद्धान्तोंकी इस उचित बाधाको भी लड़ाकी जातियोंने छिछोरेपन हीसे दूर कर दिया और खर्चका खूब प्रबन्ध (जैसा कि कोई हिन्दुस्तानी अपने यहाँ श्राद्धके नुकतेके लिए चाहे जिस तरह कर लेता है) कर लिया। एकके पश्चात् दूसरी बढ़िया धोखेबाजी सोच ली गई। एक ऋणके पश्चात् दूसरा ऋण ले लिया गया। कागजी घोड़े दौड़ा दौड़ाकर वे रुपये इकट्ठा करती चली गईं।

यह सच है कि अर्थशास्त्रके धुरन्धरोंने जो सम्मति प्रकट की थी वह मिथ्या नहीं थी। वे कहते थे कि यह लड़ाई कुछ महीनोंसे अधिक समय तक नहीं चल सकेगी; और यदि अधिक समय तक चलाई जायगी, तो सब जातियोंका नाश हो जायगा। क्योंकि करोड़ोंका दैनिक व्यय होना अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोंके अनुसार उनको असंभव प्रतीत होता था। परन्तु उनका यह विचार गलत निकला कि यह झगड़ा खर्चके मारे वर्षों तक नहीं चल सकेगा। अर्थशास्त्रके पंडित चाहे अब भी चिल्लावें कि "लड़ाई रोको, नहीं तो नष्ट हो जाओगे" परन्तु लड़नेवाली जातियाँ नहीं मानेंगी। अब वे शान्त होनेके प्रस्तावको मानें भी तो कैसे मानें ? अब वे इस मन्तव्यको स्वीकार कर ही नहीं सकतीं। लड़नेके अतिरिक्त अब वे और कर ही क्या सकती हैं ? नष्ट तो वे जितना अपने आपको समझे हुई हैं, उससे भी अधिकतर हो चुकीं, और वे बराबर ज्यादा बरबाद होती जाती हैं। अब उनको परवाह क्या रही ? उनका धन गया, उनके जवान बच्चे मरे, वे रुधिरके प्रवाहसे पागल हो गईं, उनके भोग विलास, नाच रंगके सामान और घर-बार सब गोलोंके द्वारा धूलमें मिल गये। संग्राम उनको

नाशकी ओर जितना ढकेल रहा है, उससे अधिकतर नाश उनको संग्रामकी ओर धक्के दे रहा है। नाश कहता है "चलो जातियो! संग्रामकी ओर बढ़ो"। संग्राम कहता है "चलो जातियो! नाशकी ओर बढ़ो"।

मनुष्यकी जितनी ही अधिक हानि होती है, उतनी ही लड़ाईके सर्वोत्तम खेलको खेलनेके लिए उसकी निराशा-जन्य बेपरवाही भी बढ़ती जाती है। यह कहावत ठीक ही है कि "हारके सिर मार नहीं"।

योरपके योद्धा राष्ट्रोंकी सम्पत्ति जैसे जैसे नष्ट होती जाती है, वैसे ही वैसे उनकी अन्तिम प्रहार करनेकी इच्छा भी तीव्रतर होती जाती है। जैसे जैसे उनके जेबोंकी अन्तिम पाई खर्च होनेको आ रही है, वैसे ही वैसे वे सोचते हैं कि हम अन्तिम आक्रमण करके दाँव जीत लें। सच कहा है कि "मरता क्या न करता"। जब तक उनके पास कटनेके लिए मनुष्य हैं, तब तक उनकी सेनाएँ आपसमें ठनी हुई, सीमाके मोरचों और खाइयोंमें भिड़नेके लिए तैयार रहेंगी; क्योंकि अब यह संग्राम उन जातियोंके लिए जीवन या मृत्युका प्रश्न हो गया है। वे जानती हैं कि जब तक हमारे खाये हुए धोखों और मिटी हुई आशाओंका बदला चुकानेवाला दिन उपस्थित नहीं होगा, तब तक यह संग्राम बंद नहीं हो सकता। जब तक इन जातियोंको रणभूमि पर आत्म बलिदान देनेके लिए मनुष्य मिलते रहेंगे, तब ये तक जीवित रहनेके अन्तिम अवसरको प्राप्त करनेके लिए लालायित रहेंगी और लड़ाई कभी नहीं रोकेंगी।

अब देखना चाहिए कि क्या आनेवाला कल लड़ाईमें कटनेवाले मनुष्योंका नहीं है?

यदि बीचमें ही किसी युद्ध-विशारद या विज्ञानके कुशाग्र-

बुद्धि पंडितके कौतुकके द्वारा, अथवा अस्त्र-शस्त्रके किसी पैशाचिक आविष्कारके द्वारा, अथवा भाग्यके पलटा खानेसे नाममात्रकी शान्ति और विजय—सुलह और फतह—सम्भव हो जाय, तो भी क्या उससे संग्रामका अन्त हो जायगा ?

जब तक वह अवस्था, जिसके कारण इस घोर कलहने जन्म लिया था, बदली न जायगी, तब तक ज्योंकि त्योंकी वही व्यवस्था स्वयं अपनी ही भस्मसे पुनः उत्पन्न हो जायगी। शान्ति केवल अल्प-कालीन होगी और विजय आगामी नवीन झगड़ोंके लिए एक नवीन अवसर और कारण बन जायगी। जो कल "मित्र-सेनाएँ" और "मित्र-राष्ट्र" कहलाते थे, कदाचित् उन्हींमें परस्पर गड़बड़ मच जाय। क्योंकि जब परास्त और सशस्त्र जातियोंके आपसमें हिसाब-किताब करनेका समय आता है, तब बड़ा भयंकर दृश्य उपस्थित होता है। इसके अतिरिक्त यह बात भी विचारणीय है कि इन जातियोंके सिवा संसारमें और भी जातियाँ हैं जो शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित हैं और खूब तैयार हैं। वे कैसे मानेंगी ? संसामें और भी कई अहंकार, कई लालसाएँ और कई लोभ हैं जो अपने लिए उपयुक्त समयकी बाट जोह रहे हैं। कानूनसे पृथक् की हुई या शस्त्रके बलसे अधिकृत की हुई जातियाँ भी हैं जो सुअवसरकी ताकमें बैठी हैं।

भविष्यका 'कल' क्या उनका इष्ट दिन नहीं है ? क्या उनके ध्येयकी पूर्तिका दिन 'कल' नहीं आवेगा ? जो व्यवस्थाएँ नष्ट हो रही हैं, उनका यही 'कल' अन्तिम दिन है। उसके पश्चात् कदाचित् जगत्का नवीन सप्ताह आरम्भ हो जाय।

कैदी जातियोंका दिन ।

पृथ्वीतलके मनुष्यों और संघोंकी धीरे धीरे जो उन्नति हो रही है, उसमें युरोपकी जातियोंने पहरा देनेवाले कुत्तोंका काम किया है। उन्होंने अपना कर्त्तव्य उत्साह और कठोरताके साथ पालन किया है। पिछड़ी हुई मन्दगति जातियोंके लिए उनके हृदयोंमें दया नहीं रही। उन्होंने जीवित मांसमें अपने तीक्ष्ण दाँत गड़ा दिये। यदि ये चौकीदार कुत्ते आपसमें लड़कर समाप्त न होते, तो उनकी प्रचण्ड रक्त-पिपासाको कौनसी वलि, कौनसा शिकार शान्त करता ?

यदि ये चौकीदार श्वान जातियाँ अपनी चालाक और कुटिल एकतामें संघटित रहतीं, तो वे संसार भरको हथकड़ियोंमें जकड़ देतीं, उसकी स्वच्छन्द पुष्टिको लकवा मार देतीं और उसके समस्त वल और पुरुषार्थको निगल जातीं !

वे क्या क्या कर सकती हैं, इसके विषयमें क्या यह नहीं देखा जा चुका है कि उनकी सम्मिलित सेनाओंने सन् १९०० में चीनकी राजधानी पेकिंगको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया; और उसी जर्मनीको अपना नेता बनाकर बेचारे चीनियों पर वही अत्याचार किये जिनके लिए आज वह उसी जर्मनीको कलङ्कित कर रही हैं ? इंगलैण्डके तत्का-लीन प्रधान मन्त्री ग्लेडस्टनने भरी पार्लमेण्टमें, चीन पर जो आक्र-मण किया गया था उसके विषयकी, कड़ी समालोचना की थी। उसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा था कि आज जो कष्ट चीन पर ढाहे जा

रहे हैं, वे प्रतिफलके स्वरूपमें उलटकर योरपके सिर पर एक न एक दिन अवश्य गिरेंगे। उस महात्माकी न्यायसंगत भविष्यद्वाणी अब अक्षरशः सत्य हो गई है।

उस समय योरपकी समस्त संसार पर साम्राज्य-अधिकार प्राप्त कर लेनेकी संभावनाका फैसला हुआ था और उसका दावा खारिज हो गया था। योरपका बल संसारकी उन्नतिके लिए एक उच्च मन्तव्य न बनकर एक भयंकर प्रताड़न बन गया। उसकी साम्राज्य प्राप्त करनेकी शक्ति अब टूट गई। उसकी प्रभुत्त्व जमानेकी शक्ति अब विभक्त हो गई और वह शक्ति स्वयं उसी पर टूट पड़ी है। उसकी स्थिरता संसारकी स्थिरताके हितार्थ नष्ट हो गई है।

जातियाँ उन्नतिके मार्ग पर शनैः शनैः चलती हुई कभी तो मारनेवाला—आघात पहुँचानेवाला शस्त्र बन जाती हैं और कभी आहत होने और पिटनेवाला मांस बन जाती हैं। अर्थात् विकास-सिद्धान्तके अनुसार मानव जाति धीरे धीरे उन्नत तो होती जाती है, परन्तु इस मार्ग पर चलते समय उसका एक दल दूसरे किसी दलको मारपीट बैठता है—कोई एक दल किसी दूसरे दलसे हाथापाई करने लग जाता है; कभी वह दूसरा दल पहले दलको ठोंक पीट बैठता है; कभी एक जाति दूसरी जातिको दबा देती है; एक शक्तिमती जाति किसी दूसरी शक्तिहीन जातिको अपने शस्त्रोंकी झनकारसे प्रोत्साहित कर देती है; और कभी एक जाति दूसरी जातिका दास-पद स्वीकार कर लेती है; और फिर वही पहली जाति दूसरी जातिकी स्वामिनी बन बैठती है। क्योंकि उनमेंसे एक ही जाति सदैवके लिए न स्वामिनी और न दास—न मालिक न गुलाम—रह सकती है। छुटकारा पानेका दिन कभी न कभी सबके लिए अवश्य आता है।

वास्तवमें यह संग्राम स्वतंत्रताका संग्राम है। परन्तु स्वतंत्रताका अर्थ वह नहीं है जो संग्रामकारक जातियोंने समझ रखा है। इन जातियोंमेंसे प्रत्येक जातिने अपने अधिकारके नीचे बड़ी बड़ी जातियोंको दबा रखा है। परन्तु एक जाति, दूसरी जातिके नीचेकी छोटी छोटी जातियोंको, जो परतन्त्रतामें जकड़ी हुई पड़ी हैं, स्वतन्त्र करना चाहती है। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रकी राजसत्ताके विरुद्ध हथियार बाँधे लड़ रहा है। जो राष्ट्र स्वयं अपने लिए दूसरोंकी तनिक भी परतन्त्रता और अन्याय नहीं सह सकते, वे ही दूसरी परास्त जातियों पर घोर अन्याय करने पर उतारू हैं।

इसका तो कोई निश्चय नहीं है कि यह संग्राम इतना शीघ्र योरपकी छोटी छोटी दासत्वग्रस्त जातियोंको स्वतन्त्र बना देगा। परन्तु इतना अवश्य निश्चित है कि अफ्रीका और एशियाकी दबी हुई जातियोंका परतन्त्रतासे परित्राण करानेमें यह संग्राम दिन प्रति दिन अधिक उपयुक्त साधन बन रहा है।

क्या केवल यही जातियाँ ऐसी हैं जिनको जीवनकी—स्वतन्त्र जीवनकी—अभिलाषा नहीं है? अरबी भाषाभाषी और उनके वंशजों या सह-धर्मियोंकी महती जातियाँ जो एटलांटिक महासागरसे लाल समुद्र तक और लाल समुद्रसे फारसकी खाड़ी तक बसती हैं, जिनको न केवल समान भाग्यने ही, बल्कि समान धर्म्मने भी अधीर आशाओंके पुंजको प्राप्त करनेके लिए एक करा दिया है, वे तुर्कोंकी अधीर करनेवाली परतन्त्रतासे बिना प्रार्थना किये ही छुड़ाई गई हैं। क्या ये अरब, मिस्र और आसपासकी अन्य जातियाँ जो मोरक्कोसे ट्रिपोली तक बसती हैं, एक महती जाति बननेके लिए किसी नेताकी प्रतीक्षा नहीं कर रही हैं? ऐसा नेता, ऐसा नायक जिसके लिए एक जातिमें इतने अधिक समयसे प्रतीक्षा हो रही हो, सदैव आता

है। वह आता है, फिर आता है, और तब तक आता रहता है, जब तक उसको विजय प्राप्त न हो जाय।

और फिर हिन्दुस्तान जो हमारी सबकी माता है, जो संसारका स्तन या वक्षस्थल है—क्योंकि जगत्की वह कौनसी जाति है जिसको इस माँने अपने गले लगाकर दूध नहीं पिलाया ?—क्या उस हिन्दुस्तान, उस भारतवर्षका दिन नहीं आवेगा ? क्या वह स्वतंत्रता नहीं प्राप्त करेगा ?

ये जातियाँ चाहे जितने भिन्न प्रकारके गोत्रोंकी क्यों न हों, वे एक ही प्रकारके दुःख और कष्ट उठानेके कारण एक हो गई हैं। पुराने गौरव और स्वतन्त्र भविष्यको पूर्णतः समझती हुई वे सब एक हैं—उन सबमें एक आत्मा वास करती है। वह आत्मा जानती है कि कल वह दिन आवेगा जिसके लिए वह एक शताब्दीसे प्रतीक्षा कर रही थी। इन जातियोंके धर्म्मग्रन्थोंके छापने और प्रचार करनेकी मनाही करनेसे, श्री मद्भगवद्गीताके पाठकोंको कारागारमें भेजनेसे, उनके धर्म्माचार्य्योंको षड्यन्त्रकारक माननेसे उनके आनेवाले सौभाग्य-कालमें विलंब नहीं हो सकता। यही काल, यही घड़ी एक नवीन युगका—समस्त मनुष्यत्वको उन्नत करनेवाले एक नवीन युगका—आरम्भ करेगी।

युरोपकी ये युवती जातियाँ सीख लेंगी कि उन वृद्ध जातियोंके साथ, जिनको वे अब तक सता रही थीं, ढिठाईका बर्ताव नहीं किया जा सकता; और उन बाल-जातियोंके साथ, जिनको अब वे कुचल रही हैं, निष्ठुरताका व्यवहार नहीं चल सकता। बेलजियमके पैरोंके नीचे अब काङ्गोके लोग गुलाम बनकर नहीं रहेंगे।

वह युरोप जिसकी अधीनतामें आकर संसारकी बहुत सी जातियाँ गुलाम बनी हुई हैं, अपने घरमें ही गुलाम रखे बिना कैसे रह सकता है ? स्वयं उसके घरमें ही पुराने और नये दोनों प्रकारके

गुलाम हैं। परन्तु वाह रे भाग्य! तू भी कुछ है! स्वतन्त्रताके संग्रामने वहाँकी उन्हीं जातियोंको गुलामीकी वेड़ियोंमें जकड़ दिया है जो अब तक स्वतन्त्र थीं। उदाहरणार्थ सर्वियांको ही लिया जाय। सर्वियाकी ऐसी बुरी और हीन दशा प्राचीन कालमें कभी नहीं हुई होगी जैसी इस लड़ाईने, जो उसीके परित्राणके लिए आरम्भ की गई थी, उसकी दुर्दशा कर दी है।

इन सब नई या पुरानी पददलित, दीन हीन और कैदी जातियोंके कल्याणका दिन भी अवश्य आवेगा। यह दिन उस समय नहीं आवेगा जब उन पर अधिकार जमानेवाले बनावटी रक्षक उनके लिए बाहरी शत्रुओंको परास्त कर चुकेंगे, किन्तु उस समय आवेगा जब 'कल' युरोपकी समस्त जातियाँ, जिनमें आक्रमणकारी और आक्रमित सभी सम्मिलित होंगी, उस सर्वव्यापी, भयंकर और कमीने स्वार्थरूपी शत्रुको जो उनके घरमें उन्हींको आपसमें गुलाम बनाता है, जीतकर अपने ऊपरका भार हटावेंगी। जबतक ऐसा न हो, तबतक वे सभी जातियाँ गुलाम हैं।

संग्रामका वही अन्तिम दिन होगा जो सभी जातियोंको स्वतन्त्र बनावेगा। वह विशाल संध्या, जिसके पश्चात् युरोपकी समस्त जातियाँ--चाहे छोटी हों या बड़ी--चाहे परास्त हों या नाममात्रके लिए जीती हुईं—महान् प्रभातको देखेंगी, अपने बाद वह सुदिन लावेगी। और उसी दिन संसारमें संग्रामका अन्त होगा।

विशाल संध्या ।

प्रत्येक मनुष्य कहता है और आशा करता है कि युरोपके अधिकांश देशोंमें विप्लव और राज्यक्रान्ति होगी। यदि इन देशोंकी सरकारें इस बातको नहीं जानतीं, तो वे निःसन्देह अन्धी हैं। यदि वे इस सत्यको न जाननेके लिए हठ भी करें और सुनी-अनसुनी कर जायँ, तो भी वे अपने मनमें तो यह बात अवश्यमेव जानती हैं और इसी लिए भयभीत भी हो रही हैं। जब उनकी कार्यप्रणालीका जनताकी ओरसे कड़ा निरीक्षण हो रहा है, तब यह बात स्वयं सिद्ध है कि वे सशंकित और भयभीत हो रही हैं।

संग्रामके अधिक समय तक जारी रहनेके जो अनेक कारण हैं, उनमें राज्यक्रान्तिकी आशंका कोई तुच्छ कारण नहीं है। बल्कि जितने अधिक दिनों तक संग्राम चलेगा, उतनी ही अधिक सम्भावना इस बातकी होती जायगी कि राज्यविप्लवके अतिरिक्त इसका और कुछ परिणाम ही न हो। प्रत्येक वस्तु ऐसी ही प्रतीत होती है कि मानो वह इस परिणामको सिद्ध करनेके लिए ही प्रयोजित हो रही हो।

चाहे संग्राम करनेवालोंका कोई विशिष्ट प्रयोजन न हो, परन्तु स्वयं संग्रामका तो कुछ प्रयोजन—कुछ उद्देश्य—है ही। और वह ऐसा उद्देश्य है जिसकी ओरसे लड़ाकू जातियाँ नितान्त निश्चिन्त हैं। परन्तु अन्तमें उन सबको जबरदस्ती यह मानना पड़ेगा कि यही उद्देश्य था, और वह सिद्ध भी हो गया। यह उद्देश्य या

प्रयोजन बहुत ही सीधा और सरल है कि पुराना पाप आमूल नष्ट कर दिया जाना चाहिए। जातियोंके जीवनकी पुरानी नींवें उखाड़ देनी चाहिएँ और उनके स्थानमें श्रेष्ठतर और सत्यतर सभ्यताकी नींव रखी जानी चाहिए। युरोपकी तलवार जब तक वहाँकी प्रत्येक जातिके हृदयमें छिपकर बैठे हुए भूतको, जो मारे जानेके योग्य है, न मार डालेगी, तब तक वह स्वयं अपने ही शरीर पर चलती रहेगी।

भिन्न भिन्न जातियोंमें सन्धि केवल इसी प्रकार हो सकती है। परन्तु ऐसे सन्धिपत्र पर युरोपकी सरकारें और उनकी प्रजाएँ सहमत होकर हस्ताक्षर नहीं करेंगी। ये सरकारें स्वयं तो ऐसा रोग नहीं हैं जिनसे प्रजा कष्ट पा रही है, परन्तु वे उस रोगकी उत्तरदायी, उसको प्रकट करनेवाली और दैहिक पुष्टि देनेवाली अवश्य हैं। वे सरकारें इस जातिगत स्वार्थका अवतार बनी हुई हैं। प्रत्येक जातिका गुप्त और अन्तर्लिप्त भाव उसके राजकर्म्मचारियोंके कृत्योंमें परिणत होकर प्रकट होता है। और जब कोई जाति अपने किसी पापको मिटा देनेके लिए उद्यत होती है, तब वह उसी समय उस संस्थाको भी निकाल फेंकनेके लिए प्रयत्न करती है जो उस पापको स्थूल रूपमें कायम रखकर उस जातिके नेत्रोंके सन्मुख उपस्थित करती है। जब कोई नवीन जाति किसी नवीन धर्म्मको ग्रहण करती है, तब अपने पुराने धर्म्मके साथ साथ अपने पुराने मन्दिरों और मूर्त्तियोंको भी तोड़ फोड़ देती है। मूर्त्तियाँ और मन्दिर स्वयं तो निर्दोष होते हैं, परन्तु वे इस हेतु नष्ट भ्रष्ट कर दिये जाते हैं कि वे उस पुराने धर्म्मके चिह्न होनेके कारण उस जातिके हृदयमें पुराने धर्म्मका स्मरण दिला दिलाकर उसको कष्ट पहुँचाते रहते हैं।

यदि राज्य-संस्थाएँ या सरकारें अपनी अधिकृत जातियोंके

क्लेशोंके सच्चे कारणोंको जानकर और मानकर उन कारणोंको वहीं नष्ट कर देतीं और इस प्रकार पुराने स्वार्थ रूपी पापमतको निःस्वार्थतारूपी धर्म्ममें बदलकर अपना प्रायश्चित्त कर लेतीं, तो निःसन्देह वे उपर्युक्त दंडसे बच जातीं। युरोपकी ऐसी कौनसी सरकार है जिसने अपने पुराने पापोंको धोकर प्रायश्चित्त कर लिया है? परन्तु ऐसा होता भी तो कैसे होता? क्योंकि वहाँकी सब रियासतोंने तो अपने आपको दृढ़तासे जकड़ लिया है। पाप कर्म्मोंमें वे सब पुराने लँगोटिया यार हैं। उनमेंसे कोई काया पलटे तो कैसे पलटे?

इसलिए युरोपकी प्रजा इस प्रायश्चित्तके कार्यको स्वयं अपने हाथमें लेगी। जिस दिन उसको अपने राजनीतिज्ञोंकी पापमय अन्तर्राष्ट्रीय नीतिका पूरा पता लग जायगा और उनके स्वार्थप्रेरित अत्याचारोंको सुन्दर और पवित्र भाषामें जातीयताके बहानेसे प्रकाशित करनेके उस ढोंगका पूर्ण ज्ञान हो जायगा जो अब तक उनसे गुप्त रखा गया था, उस दिन युरोपकी समस्त प्रजा राष्ट्र-विप्लव करनेके लिए स्वयं उठ खड़ी होगी।

इस समय तक युरोपके लोगोंको केवल मृत्युके सत्यका ही ज्ञान है। और बातोंके सम्बन्धमें उन्होंने केवल झूठ ही झूठ सुन रखा है। संग्रामके झूठे उद्देश्य बताये गये, उसके झूठे परिणाम समझाये गये और उसके झूठे तात्पर्य बतलाये गये हैं। जो कुछ था, जो कुछ है और जो कुछ होगा, उनके विषयमें बिलकुल गप्प हाँकी गई है। मानो आदिसे अन्त तक सारा झूठा पाठ ही पढ़ाया गया है—कपोलकल्पित बातें ही सुनाई गई हैं। परन्तु एक दिन ऐसा आवेगा जिस दिन सत्य इन झूठोंको वायुके झोंकोंमें उड़ा देगा।

वही विशाल संध्याकाल होगा जो इस संग्राम पर 'इतिश्री' की मोहर लगा देगा, या इसको एक दूसरे प्रकारके ऐसे संग्राममें परि-

गत करा देगा जो इस भूतल पर अन्तिम युद्ध होगा। क्योंकि वह नवीन युद्ध उन्हीं व्यवस्थाओंके विरुद्ध होगा जो संग्रामको जन्म दिया करती हैं। इन व्यवस्थाओंकी मृत्युके लिए वही विशाल सन्ध्या-समय होगा। अर्थात् लाखों मनुष्योंकी जो हत्या हो चुकी है, उसका बदला इन व्यवस्थाओंको नष्ट करके ही चुकाया जायगा। बस वही समय वह विशाल सन्ध्याकाल होगा।

अत्यन्त स्पष्ट और दुर्दमनीय घटनाओंके देखते हुए उपर्युक्त हालके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है?

युरोपकी सरकारो! क्या तुम कलके दिन अपनी प्रजाओंसे इस आशारहित धोखे-धड़ीके अस्तित्वको गुप्त रख सकती हो; और विशेषकर ऐसी स्थितिमें जब कि वे झूठी आशाएँ, जो तुमने उनको धोखा देनेके लिए दे रखी थीं, असत्य और असार प्रमाणित हो जायँगी? क्या तुम ऐसे समयमें जब कि समस्त भ्रान्तियों और धोखेबाजियोंका मंच, जिसको तुमने उनकी आँखोंमें धूल डालनेके लिए ही खड़ा किया था, जर्जर होकर गिर रहा है, उनसे इस बातको छिपा सकती हो? क्या तुम कलके दिन उस नाशकी वास्तविकताको उनसे छिपा सकोगी जब वह मरकर अवश्य पुनः उठ खड़ा होगा? और फिर वह जीवित किस प्रकार होगा और किस आधार पर जीवित रहेगा?

जब तुम संग्रामके ऋणका असह्य भार इन दीन हीन और सम्पूर्णतः परिश्रान्त प्रजाओंके मस्तकों और कन्धों पर लादती हो, तब तुम सत्यको उनसे कैसे छिपा सकती हो? ऐसे समयमें जब कि उनको अपने अवशिष्ट रुधिरको नाना प्रकारके राजकरोंके चुकानेके हेतु पसीना बनाना पड़ेगा, उनसे वास्तविकताको कैसे गुप्त रख सकती हो? पचासों अरब रुपयोंको जो तुम्हारे नाम

ऋणस्वरूप उनके बाकी पड़े हुए हैं, और जो कल तक दस खरब हो जायँगे, उनसे कैसे छिपा सकती हो ?

क्या तुम चाहती हो कि इस ऋणके भारी टीलेको जो तुमको दबा रहा है, तुम्हींको बचानेके लिए वे अपने जेबोंसे धन इकट्ठा करके दे दें और अपने आपको भी तुम्हारी ही कब्रमें गाड़ दें ? वे इस बातको अधिक पसन्द करेंगी कि इस करजके टीलेकी चोटी पर खड़ी होकर तुम्हारी पुरानी आशाओंको कुचलते हुए वैसा ही भयंकर नृत्य करें जैसा स्वेच्छाचारका नृत्य तुम सबने उनके शवोंके पर्वत पर खड़ी होकर किया था।

क्या तुम इस भीषण नृत्यके एक मात्र कारणको छिपा सकती हो ? वह एक कारण धनके लिए न सन्तुष्ट होनेवाला तुम्हारा लोभ—शक्ति और सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिए तुम्हारा वह लालच—तुम्हारा वह घमंड, तुम्हारा वह अन्याय और अमानुषिक लुटेरापन है।

लोग इस बातका पता लगाये बिना कैसे रह सकते हैं कि इसी कारणमें वह गुप्त विष भरा पड़ा है जो उनकी हत्या कर रहा है ? और जब वे इस विषयको ढूँढकर पहचान चुके हैं, तब इसको अपने प्राण बचानेके हेतु अपने मुँहमेंसे थूककर बाहर निकाले बिना कैसे रह सकते हैं ? यदि विष निगल लिया जाय तो मृत्युके अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

जब वे बिलकुल यही देखते हैं कि सब सरकारोंने अन्तर्राष्ट्रीय शतरंजके तख्ते पर पड़ोसी प्रजाओंके शरीरों और सामानोंको प्यादे मोहरोंकी तरह कटवा डाला, जब वे जानने लगे हैं कि जिसको रियासत कहते हैं, वह एक ऐसी छायादार आढ़तकी दूकानका भड़कीला नाम है, जिसकी आन्तरिक व्यवस्थाको जाने बिना ही हमने उसकी जमानत और उत्तरदायित्वके लिए अपने

खूनसे हस्ताक्षर कर दिये हैं, जब उनको इसका ज्ञान हो चला है कि कुछ लोगोंकी समितियाँ (सरकारें) अपने निजके गुप्त स्वत्वों और स्वार्थोंको सिद्ध करनेके लिए ही हम पर अधिकार जमाये हुए हैं, जिन बड़े बड़े शब्दोंको आर्त स्वरसे पुकारकर प्रजाके वीरत्वको भड़काया गया था, उन शब्दोंकी आड़में व्यापार और कमाईके हथकंडे छिपा रखे गये थे, और प्रजाके जितने अधिक सिर कटते थे, उनकी गणना पर क्या क्या लाभ निर्धारित किये गये थे, वे लोग जिनको तुम सब इस प्रकार परस्पर लड़नेको दबा रही हो, जैसे कुत्तोंके झुंडको शिकारके पीछे सीटी देकर और भड़काकर लगा देते हैं, तब वे तुम्हीं पर टूट पड़ेंगे और तुम्हींको चीर फाड़ डालेंगे। जातीय स्वार्थका जो सौ सिरोंवाला गिद्ध है और जो अबतक उनको खाता रहा है, उसकी मृत्यु अब आ गई है। उसका शिकार खेलनेके लिए—उसकी बोटी बोटी नोचनेके लिए—युरोपकी समस्त जनता खड़ी हो जायगी।

गरीब, ज्ञानशून्य, भोले भाले, अनायास धोखेके जालमें फँसनेवाले लोग—अखाड़ेमें अन्यायियोंके आज्ञानुसार खेल खेलनेको उतारे हुए रोम देशके प्राचीन कालके गुलामोंके झुंडकी नाईं—कसाईखानेमें ठूँसे हुए पशुओंकी नाईं—रणभूमि पर सिर कटानेको ढकेले गये। उनमेंसे कोई संग्राम करना नहीं चाहता था। उन्हीं राजनीतिज्ञोंका विश्वास करते हुए, जो उनके नाशके कारण हैं और उन्हींके दबाने और उभारनेसे ये लोग संग्राम करनेको उद्यत हो गये थे। उन्हीं राजनीतिज्ञोंने, उन्हीं राज-सचिवोंने इन भोले-भाले लोगोंको ईर्ष्या और द्वेषकी जहरीली ब्रांडी पिलाकर उनको पागल बना दिया और लड़ाई करनेके लिए आगे ढकेल दिया।

युरोपकी जनता बिना सोचे समझे युद्धकी रंगभूमि पर जा जमी। परन्तु गत दो वर्षोंमें उनके स्वामियोंने उनके कष्ट और

दरिद्रताके विषयमें जो हजारों झूठ बातें कही हैं, वे सब व्यर्थ हैं। स्वयं जनताने अपनी दीन हीन दशाकी मीमांसा निम्नलिखित शब्दोंमें की है—"जब सब देशोंकी अधिकांश प्रजा शान्तिके साथ जीवन निर्वाह करना चाहती है, तो फिर प्रत्येक देशके मनुष्य संग्राममें क्यों ढकेले जाते हैं? ऐसा क्यों हो रहा है? और ऐसा कौन करा रहा है? प्रत्येक देशमें भाईकी हत्या भाईसे कौन करा रहा है?"

लोग संग्रामसे तभी वापस लौटेंगे जब उनको इस गोरखधन्धे-का भेद मालूम हो जायगा—जब उनको इस पहेलीका स्पष्ट उत्तर मिल जायगा। अब यह देखना है कि सरकार और प्रजा इन दोनोंमेंसे इस पहेलीका अर्थ बतानेमें कौन टालमटोल कर रहा है। अभी यह ज्ञात नहीं हुआ है कि इस भीषण हत्याकांडने उनके भीतरकी आत्माको कैसा बना दिया है। इस युद्धसे वे अपने स्वभावोंको बदलकर ही लौटेंगे। चाहे वे देवता बनकर आवें और चाहे पिशाच बनकर लौटें, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे सब उस व्यवस्थाको—उस परिपाटीको—जो इस नरकके लिए उत्तर-दायी है, चिल्ला चिल्लाकर धिक्कारेंगे और उसको पैरोंके नीचे कुचल डालेंगे।

वे ऐसी व्यवस्थाके लिए—ऐसी परिस्थितिके लिए जिसने किसीके साथ दया नहीं की, और जो कदाचित् फिर भी उनके बच्चोंको शान्तिके मन्दिरसे घसीटकर संग्रामके नरकमें ढकेल सकती है, क्यों किसी प्रकारकी अनुकम्पा दिखलावेंगे?

भावी उषःकाल ।

युद्धके सम्बन्धमें वही सच्ची बातें हैं जो पिछले प्रकारणोंमें कही गई हैं। सब प्रकारका व्यतिक्रम और गड़बड़ी रहते हुए भी हमें इन सच्ची बातोंको देखना चाहिए और घटनाओंके शोर गुलके रहते हुए भी इसकी घोषणा करनी चाहिए। यदि इस संग्रामका भविष्यके सम्बन्धमें इस प्रकारका प्रयोजन न हो तो फिर इसका और कुछ भी अर्थ और प्रयोजन नहीं हो सकता। फिर तो खरबोंका व्यय और लाखोंकी हत्या व्यर्थ ही जाय; क्योंकि संसारमें कोई बात बिना कारण और बिना परिणामके नहीं होती।

तो भी इस बातका विचार करना चाहिए कि इस संग्रामके सम्भवतः क्यां क्या अर्थ हो सकते हैं और वे उचित और सच्चे हैं या नहीं। उसी बातकी मीमांसा यहाँ की जाती है।

उदारतासे प्रेरित होकर यह युद्ध नहीं हुआ, क्योंकि दोनों ही ओरके राष्ट्र उदार नहीं हैं। दोनों ही दलोंकी राष्ट्रीय और औपनिवेशिक नीतियोंमें राजसत्ता और स्वेच्छाचार भरा पड़ा है। रूसकी 'जारशाही' जर्मनीकी 'कैसरशाही' को क्योंकर निन्दित बता सकती है? लन्डनकी "ठकुराई" पेरिसकी 'पंचायत' को कैसे धिक्कार सकती है?

धर्म्मके प्रयोजनार्थ भी यह संग्राम नहीं ठना, क्योंकि दोनों ही ओरकी प्रधान लड़ाकू जातियाँ क्रिश्चियन धर्म्मानुयायिनी हैं। दोनों दलोंके क्रिश्चियनोंमें प्रोटेस्टेन्ट भी हैं और रोमन कैथलिक भी। दोनों एक ही ईश्वरके उपासक हैं। इनके सिवा जो और मुसलमान,

यहूदी इत्यादि युद्धमें सम्मिलित हुए, वे अनाप शनाप ढंगसे हुए हैं। कोई इधर आ मिला तो कोई उधर जा पहुँचा। धर्म्म-सम्प्रदायका जितना कम विचार इस झगड़ेमें हुआ, उतना कभी नहीं हुआ होगा।

गोत्र या वंश आदिका भी कोई विचार इस लड़ाईमें योग देता नहीं जान पड़ता। एक ओर तो पृथक् पृथक् वंशोंकी जातियाँ पड़ोसी बन गईं और एक ही तरफसे लड़ने लगीं; और दूसरी ओर एक ही वंशकी दो जातियाँ आपसमें लड़ने लग गईं। उनमें एक इधर आ गई, दूसरी उधर चली गई। बिलकुल ही अनमेल गोत्रों और नस्लोंका विचित्र रूपसे संघटन हुआ है। कहाँ अँगरेज और कहाँ इटैलियन, कहाँ हिन्दुस्तानी और कहाँ बेलजियन, कहाँ रशियन और कहाँ फ्रान्सीसी! पर ये सब एक ही झंडेके नीचे खड़े लड़ रहे हैं। 'सगे-सम्बन्धी' का विचार किया जाय तो भी बात बिलकुल ही अनोखी और कुतूहलप्रद दिखाई देती है। निकटसे निकटतर सम्बन्धी एक दूसरेके सामने ईर्ष्या और घृणासे भरे हुए खड़े हैं। लड़ाकू राजाओंकी ओर देखा जाय तो और भी आश्चर्य होता है। टर्कीके सुल्तानको छोड़कर सबके सब एक ही वंशके हैं। उदाहरणार्थ विक्टोरियाका पोता इंग्लैंडका सम्राट्, उसी राजमहिषीका नाती जर्मनीका कैसर और उसी रानीका सम्बन्धी रूसका जार है।

अर्थशास्त्रके सिद्धान्तों और नियमोंका भी कोई विचार इस संग्राममें नहीं किया गया है। उन सिद्धान्तोंके अनुसार दोनों ही दलोंका सर्वनाश निश्चित है। यदि कुछ ऊपरसे दिखावटी लाभ है, तो वह भी तटस्थ या उदासीन जातियोंका।

और सबके अन्तमें युद्धविद्याके मूल तत्वोंको देखते हुए भी इस युद्धका कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि इस राक्षसी लड़ाईका

अन्त सबकी हार है। दोनोंमेंसे प्रत्येक लड़ाका मरते दमतक यही पुकार रहा है:—"मैं जीता और शत्रु हारा"।

यह तो देखा ही जा चुका है कि इस भयंकर संग्रामका यह भी कारण नहीं, वह भी उद्देश्य नहीं; यह भी सिद्धान्त नहीं, वह भी प्रयोजन नहीं। तो फिर यह है क्या आपत्ति और यह उत्पन्न क्यों हुई? इसको जाननेके लिए हमें और भी गहरा विचार करना चाहिए। युरोपके महासंग्राम रूपी नाटकके पीछे एक और बड़ा नाटक अपनी जवनिका उठाकर अपनी बहार दिखाने लगा है। ऊपरसे दिखाई पड़नेवाली व्यवस्थाओंकी गड़बड़ीके पीछे जो अदृश्य बातें छिपी हुई हैं, उन्हींका यह संग्राम है। यह वह संग्राम है जो पुरानी व्यवस्था स्वयं अपने प्रतिकूल इसलिए मचा रही है कि आक्रमण और विश्वासघातकी शक्तियाँ आपसमें ही लड़ भिड़कर सम्पूर्णतः नष्ट हो जायँ। युरोपने अनेक शताब्दियोंतक अपना प्रभुत्व स्थापित करके अपने पुरुषार्थका जो पुरस्कार पाया है, वही वह अपनी प्रजामें उनके पापकृत्योंके वेतनके रूपमें बाँट रहा है! वाह! वाह! कैसा बढ़िया—कैसा सुन्दर दृश्य है!

ऐसा ज्ञात होता है कि मानो युरोपने इस विस्तृत और प्रचंड अग्निकुंडका इसी हेतु निर्माण किया है कि जिसमें वह अपने पापोंको जलाकर पूर्णतः पवित्र और विशुद्ध हो जाय, या एक बार मरकर पुनः पवित्र जन्म धारण करे। क्योंकि उस युरोपके पीछे, जो आज मर रहा है, एक और युरोप है जो जीनेके लिए तैयार हो रहा है। वही युरोप एक श्रेष्ठतर और शुद्धतर भविष्यको प्राप्त करनेके हेतु इस महायज्ञमें अपने धन और रुधिरकी आहूतियाँ डाल रहा है।

यदि ऐसा न होता तो वह विशाल सन्ध्या, जो आ रही है, योरपके लिए उस महारात्रिकी प्रस्तावना होती, उस तारागणरहित, गहरी अन्धेरी और भयंकर रात्रिकी प्रस्तावना होती जिसमें

सभी मृत जातियाँ और उनकी भ्रष्ट सभ्यताएँ लीन हो जाती हैं। क्योंकि जो कुछ पुरानी व्यवस्था थी, उसके छिन्न भिन्न होनेके पश्चात् योरपको दोनों मार्गोंमेंसे एकको अवश्य ग्रहण करना पड़ेगा। या तो वह नाशके खंडहरोंमें, विस्मृतिके गहरे गड्ढेके तलमें अपना वासस्थान बनावे और या वह एक नवीन संसारकी सृष्टि करे। अब उसके लिए पुराने मार्ग बन्द हो गये हैं। अब चाहे वह अन्धकूपमें गिर जाय और चाहे उस सुप्रभातकी ओर आगे बढ़े।

और यह प्रभात, यह तड़का—पौ फटना कैसा होगा ? वैसा नहीं जैसा कल या परसों हुआ था और जिसके चौबीस घण्टे समाप्त होने पर फिर वैसे ही दूसरे अहोरात्रके चौबीस घण्टे आरम्भ हो गये। बल्कि यह तड़का उस व्यवस्थाके प्रकाशमें आवेगा जो आज तक कभी देखनेमें आई ही न थी। यह तड़का उस भविष्यके आगमनका चिह्न है, जो गत कालके साथ किसी प्रकारकी समानता नहीं रखता। बहुधा भविष्य धीरे धीरे व्यतीत होनेवाला भूतकाल ही होता है। परन्तु जब तक इस भूतकालकी छाया हमारे ऊपरसे नहीं ढल जाती, तब तक यह तड़का नहीं हो सकता।

इस भूतकालकी छायासे बाहर निकलनेमें कौन सी जातियाँ अग्रसर होंगी ? सम्भव है, वही जातियाँ आगे हों जिन्होंने इस तूफानका आरम्भ कराया था। जो जातियाँ इस सर्वव्यापी हारसे शिक्षा पा चुकी हैं, वे ही सबसे आगे बढ़कर अँधेरी छायासे अपने पैर बाहर निकालेंगी।

इस संग्रामकी थकान सब पर उस समय तक बनी रहेगी जब तक उनकी कुटिल शक्ति, जो उनको बुराईकी ओर ढकेल रही है, स्वयं पश्चात्ताप न करने लगेगी। जब तक लोग जीवित रहनेके लिए किसी श्रेष्ठतर उद्देश्यको नहीं ढूँढ़ लेंगे, जब तक वे जीवनके नवीन नियमको स्वीकृत नहीं कर लेंगे, तब तक वे बराबर इस बातका

अनुभव करते रहेंगे कि मृत्युका अटल नियम हमारे ऊपर राज्य कर रहा है।

सभी जातियोंके सामने सदा यही दुबधा खड़ी रहती है कि या तो वे जैसी हैं वैसी ही रहें और जिन कष्टोंको वे भोग रही हैं, आगे भी भोगती रहें; और या अपने आपको जड़मूलसे बदल दें। इस बदलनेका यह तात्पर्य नहीं है कि कोई जाति अपनी दो चार वाहरी या भीतरी आदतोंमें या साधारण दिखावटी जीवनमें परिवर्त्तन कर ले। राज्यप्रबन्धमें, राजनीतिमें, राज्यप्रणालीमें या राजकर्मचारियोंमें ही परिवर्त्तन करनेसे समस्त संसारके अधःपतनका अन्त नहीं हो सकता—केवल ऐसी ही वातोंसे जातियोंके भाग्योंमें शुभ और माङ्गलिक अन्तर नहीं आ सकता।

यदि केवल मनुष्योंमें ही परिवर्त्तन हो जाय और वाकी वातें ज्योंकी त्यों वनी रह जायँ, और और वातोंको वदल दिया जाय और मनुष्य जैसेके तैसे रह जायँ, तो क्या लाभ हो सकता है? मनुष्यों और व्यवस्थाओं दोनोंमें ही वहुत वड़ा और वास्तविक परिवर्त्तन होनेकी आवश्यकता है। प्रत्येक जातिकी जो आत्मा है, उसमें परिवर्त्तन होना चाहिए। एक नवीन संसारका ज्ञान सवके हृदयोंमें उत्पन्न होना चाहिए। जव तक मनुष्योंके आभ्यन्तरिक और वाह्य स्वभावों और प्रकृतियोंमें,—संस्थाओं, व्यवस्थाओं और नीतियोंमें,—वास्तविक परिवर्त्तन न होगा, तव तक अभीष्टकी सिद्धि विलकुल असाध्य है। परन्तु ऐसा हो रहा है। वह तड़का होनेवाला है, वह पौ फटनेवाली है, जिसके उपरान्त संसार एक पवित्र और नवीन सूर्यके दर्शन करेगा और अपनी मनोकामनाको एक शुद्ध प्रकाशमें पूर्ण करेगा।

सभी जातियोंके साधारण जन-समूहमें छिपे हुए कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं जिनके हृदयोंमें नवीन संसारका ज्ञान विद्यमान है।

ये मनुष्य इस बीसवीं शताब्दीके नहीं हैं जो व्यतीत हो रही है, बल्कि भविष्यसे आये हुए प्रतीत होते हैं। परन्तु अभी तक उनकी संख्या कम है। उनके द्वारा आकर्षित होकर दूर दूरसे आकर और बहुत सी व्यक्तियाँ भी उनमें सम्मिलित होती जा रही हैं। कई लोग जिनका भ्रम अब नष्ट हो गया है और जिनकी अन्तर्गत ईर्ष्याएँ उनसे दूर हटती जा रही हैं, अपने हृदयमें एक ऐसे उषःकालकी प्राथमिक रश्मियोंका, जिसके आगमनकी उनको तनिक भी आशा नहीं थी, अनुभव कर रहे हैं। जैसे जैसे समय आगे बढ़ता चला जाता है, वैसे वैसे उनकी संख्या भी बढ़ती जा जा रही है। कल ऐसा दिन होगा कि प्रत्येक जातिमें ऐसे ही उदार भाववाले मनुष्योंकी संख्या सबसे अधिक होगी।

पुरानी रुकावटोंको हटाकर उन लोगोंको एक होने दो। क्योंकि सब जातियोंके ऐसे विचारोंके मनुष्य एक ही आध्यात्मिक मातृभूमिकी सन्तान हैं—एक ही जन्मभूमिके लाल हैं। ऐसे मनुष्योंको मिलकर ऐसा प्रयत्न करने दो जिसमें वे क्षत-विक्षत युरोपको अधःपतनके गहरे गड्ढेसे निकालकर उसको ऊपर उठावें। कलके युरोपके नष्ट खंडहरोंमेंसे उनको भविष्यका युरोप रचने दो। फिर यदि वह नवरचित युरोप भी उनकी प्रार्थना सुननेमें देर लगावे तो इस बातकी घोषणा भूतलके उन महाद्वीपोंमें होने दो जिनमें अब भी विश्वास और सहिष्णुता विद्यमान है। उनको पूर्व दिशासे आनेवाले उषःकालको—सूर्योदयको पश्चिममें प्रकाश फैलानेके पहले ही प्रणाम कर लेने दो।

सभी जातियोंमें ऐसे मनुष्य हैं जो वास्तवमें किसी एक विशेष जाति और धर्म्मके नहीं हैं, क्योंकि वे उदारचित्त लोग समस्त मानव जातिके सेवक हैं। ऐसे लोग चाहे क्रिश्चियन हों, चाहे हिन्दू और चाहे मुसलमान, पर उनका वास्तविक धर्म्म परमार्थ है। वे

न तो युरोपके, न अमेरिकाके और न अफ्रीकाके निवासी कहे जा सकते हैं। वे तो सारी पृथ्वीके निवासी हैं—सारे जगत्के नागरिक हैं। उनकी आत्मा सारी पृथ्वी तक विस्तृत है। वे जाति--हित और देश-हितकी अपेक्षा संसार-हित तथा मानव-हितको अधिक आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं। ऐसे ही व्यक्तियोंके सन्मुख—ऐसे ही महानुभावोंके सामने--मानव जाति अपने परिश्रमोंके लिए पुरस्कार और अपने कष्टोंके लिए फल माँगनेको खड़ी है।

उन उदारचेता पुरुषोंको जातियोंके सन्मुख न्यायके अटल नियमको प्रकट करने दो, क्योंकि इसी नियमको, इसी कानूनको जातियोंके समाजमें भी उसी प्रकर राज्य चाहिए जिस प्रकार यह कुटुम्बोंके समाजमें राज्य करता है। सभी जातियोंको, जो एक ही संसारकी नागरिक हैं, यह निस्स्वार्थ भावका, भ्रातृभावका नियम उसी प्रकार एक कर देगा, जिस प्रकार यह जातिके बहुतसे मनुष्यों-को एक कर देता है। मानव जातिकी शान्तिका उत्सव खूब समारोहके साथ मनानेके लिए इन सबको एक होने दो। भूतकालमें जो प्रतिज्ञा हुई है और भविष्य कालका जो अभीष्ट है, उसको कार्यमें परिणत करनेके हेतु इन महानुभावोंको उद्योग करने दो। क्योंकि जो आनेवाले हैं, वे सब इन्हीं पर अपनी दृष्टि जमाये हुए हैं। इसी पीढ़ीके, इसी समयके उक्त उदार-हृदय मनुष्य कई शताब्दियोंसे लगी हुई और भ्रातृभावका राज्य करानेवाली आशा पूरी करेंगे। और वह आशा—युरोपके उस महासंग्रामके पश्चात् जिसके सदृश संग्राम मनुष्य जातिके इतिहासमें कदाचित् हुआ ही नहीं—उस दिनके आगमनकी आशा है जिसके समान दिन मनुष्योंके लिए आज तक कभी आया ही नहीं। वह नवीन दिन--नूतन उषःकाल समस्त संसारके लिए होगा।

दूसरा खण्ड।

जातियोंका कानून।

जातियाँ चाहे अपनी इच्छासे और चाहे इच्छाके प्रतिकूल भूतल पर समाज बनाकर रहती हैं। इनमेंसे प्रत्येक जाति मनुष्यत्वका वास्तविक व्यक्तिविशेष, सजीवित और काम करता हुआ संघ संघटित कर लेती है। जैसे भारतवर्षमें रहनेवाली जातिने हिन्दू समाज बना लिया, टर्कीमें रहनेवाली जातिने मुसलमान समाज बना लिया, आदि।

परन्तु दुर्भाग्यसे उस प्रकार सम्मिलित रहनेवाले मनुष्योंका मस्तिष्क अभी तक पाशविक जीवन और पाशविक ज्ञानके तलसे ऊपर नहीं उठा है। उनका इस परिपाटीसे रचा हुआ समुदाय अभी तक एक ऐसा समाज रहा है जो मनुष्योंका सा नहीं, किन्तु जंगली पशुओंका सा रहता आया है। और इनमेंसे भी जो अधिकतर विकसित और उन्नत हुए, वे शिकारी जानवरोंकी नाईं हो गये हैं। किसी जातिके मनुष्योंने जो समाज बनाया, उसमें अपने खाने पीने, पहनने, भोग विलास करने, रक्षा करने इत्यादि दैहिक इन्द्रियोंसे उत्तेजित हुई वासनाओंकी पूर्तिका ही अधिकांशमें ध्यान रखा है और अखिल मानव जातिके प्राकृतिक और पवित्र आदर्शोंकी ओर बहुत कम ध्यान दिया है। इस प्रकार काम धन्धे करते हुए और सामग्रियाँ संचित करते हुए जो जाति या समाज अधिकतर उन्नत और विकसित हो गये, उन्होंने अपनी

वासनाओंको और भी विस्तृत किया और उसकी पूर्ति या तृप्तिके लिए वे दूसरी जातियोंके समाजों पर आक्रमण और अत्याचार तक करने लगे। जैसे जंगली जानवर अपने आहारके लिए अपनेसे निर्बल पशुओंको मारकर पेट भरते हैं, उसी प्रकार ऐसे समाज भी अपनेसे कम शक्ति और बल रखनेवाले समाजोंका पशुओंकी नाईं शिकार करने लगे।

इसी लिए कई जातियोंने अपनी राजसत्ता प्रकट करनेके लिए जो संकेत और चिह्न स्वीकृत किए हैं—जिनको वे अपनी पताकाओं पर, कागजों पर और मकानों पर लगाते हैं—वे भयंकर और क्रूर शिकारी पशुओं और पक्षियोंके ही हैं। जैसे सिंह, रीछ, चीता, चील्ह, गिद्ध इत्यादि। कई इनसे शक्तिमें कम हैं, परन्तु लड़ाके इन्हींके बराबर हैं; जैसे मुर्गा और गरुड़। ये संकेत उचित और न्यायसंगत हैं और ये उन जातियोंकी हिंसक, लड़ाकी एवं क्रूर प्रकृतियोंके प्रमाणसूचक हैं।

आधुनिक समय तक जातियोंका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करनेवाला जो नियम काममें लाया गया है, वह शक्ति और संग्राम-का नियम, अर्थात् पशुओंकी लालसाओंकी पूर्त्ति करनेका ही नियम है। दो जातियोंमें अबतक ऐसा ही सम्बन्ध रहा है जैसा दो हिंसक पशुओंमें होता है। एक जातिने दूसरी जातिके साथ यही सम्बन्ध रखा है कि उस पर आक्रमण करके उसकी कमाई अपने पेटमें रख ले। अर्थात् इस समय तक जातियोंमें जो पारस्परिक सम्बन्ध रहा है, वह मानुषिक नहीं किन्तु पाशविक प्रकृतिका रहा है।

परन्तु अब वह समय आ गया है जब कि इस सम्बन्धमें परिवर्त्तन होना चाहिए। जब कि जाति स्वयं ही बहुतसे मनुष्यों-के सम्मेलनसे रची गई है, तब फिर जातियोंके लिए विकासके

सिद्धान्तानुसार यह आवश्यक है कि वे पाशविक प्रकृतिकी सीमा-को लाँघकर मानुषिक प्रकृतिकी स्थितिमें पहुँचें और वास्तवमें नीतिमान् और धर्म्मनिष्ठ मनुष्य बन जायँ।

मनुष्यों और जातियोंके लिए एक ही नैतिक नियम है। इनके लिए भिन्न भिन्न नियम नहीं हैं। क्योंकि जाति कोई ईंट-पत्थर या पशु-पक्षी नहीं है। जाति बहुतसे मनुष्योंका ही संघ है। जो नियम एक अंगके लिए उपकारी है, वही नियम समूचेके लिए भी लाभ-दायक है। समाजका अंग है मनुष्य, और जातिका अंग है समाज। इसलिए नीति और धर्म्मके जो नियम मनुष्यके लिए उपकारी हैं, वही नियम जातिके लिए भी लाभदायक हैं। अब तक मुख्य दोष यही चला आ रहा था कि मनुष्य और जाति दोनों नितान्त भिन्न समझे जाते थे। पर वास्तवमें जो एक मनुष्य-के लिए अपराध है, वही उसके देशके लिए, उसकी जातिके लिए भी अपराध है। यदि किसी अपराधका दण्ड एक मनुष्यको दिया जाता है, तो वही दण्ड उसकी जातिको भी उस अपराधके करने पर मिलना चाहिए। यदि स्वार्थता, व्यभिचार, ठगी, अत्याचार, उद्दण्डता और हत्या आदि अपराध एक मनुष्यके लिए नीच और घृणित समझे जाते हैं, तो एक जातिके लिए भी वे अपराध वैसे ही समझे जाने चाहिएँ। यदि उपर्युक्त नीच कृत्य किसी मनुष्यकी प्रतिष्ठाको नष्ट करनेवाले समझे जाते हैं, तो क्यों न वे एक जातिकी प्रतिष्ठाको भी मिट्टीमें मिलानेवाले समझे जायँ? एक मनुष्यका मान उसकी जातिके मानसे क्यों पृथक् समझा जाता है? और फिर एक जाति जो स्वयं अपनी प्रतिष्ठाको बारम्बार अपने लुटेरेपनके कृत्यों और बगावतके कार्योंसे कलुषित करती है, इसी प्रतिष्ठाकी डींग हाँककर अस्त्रों शस्त्रों और आक्रमणोंके द्वारा उसकी क्यों रक्षा करती है? मनुष्यकी प्रतिष्ठा उसके दैहिक

वलमें नहीं है। इसी प्रकार एक जातिका मान भी उसके बाह्य और स्थूल बलमें नहीं है। जिस ढंगसे वह मनुष्य या जाति अपने शारीरिक बलको काममें लाती है, उसी ढंगके अनुसार उस मनुष्य या जातिकी "इज्जत" या "प्रतिष्ठा" भी होनी चाहिए। प्रतिष्ठा धनी होनेमें नहीं है, वल्कि जिस अच्छे प्रकार या भावसे वह धन कमाया और काममें लाया जाता है, उसी प्रकार और भावमें प्रतिष्ठा है। प्रतिष्ठा दूसरों पर अधिकार और दमन करनेमें नहीं है, वल्कि स्वयं अपने ऊपर अधिकार रखने और अपने आपका दमन करनेमें है। अपनी और दूसरोंको प्रतिष्ठा करना ही प्रतिष्ठा है। एक ऐसा मनुष्य है जो चोरी और लूट-खसोटसे धनवान हो गया है, अपने शरीरके बलसे बहुत निर्वल मनुष्योंसे लड़कर उनका स्वामी बन गया है, अपने धन और शक्तिके बलसे अड़ोस पड़ोसके रहनेवालोंकी जायदादें छीनकर जमींदार बन गया है, और इस प्रकार उसको अनन्त धन-भण्डार मिल गया है; उसको वह आमोद-प्रमोद, विहार-विलास, व्यभिचार-अत्याचारमें व्यय करने लगा है, और इस प्रकार वह अत्याचारी वनकर दूसरोंकी प्रतिष्ठाका कुछ भी विचार नहीं करता। क्या ऐसा मनुष्य कभी प्रतिष्ठित या इज्जतदार कहला सकता है? इसी प्रकार यदि कोई जाति भी इसी मनुष्यकी भाँति अपनी शक्ति या हिंसक प्रकृतिसे अत्याचर, आक्रमण और प्रताड़न करके दूसरे देशों या उपनिवेशोंकी जातियोंकी सम्पत्ति लूट खसोटकर उन पर अधिकार जमा वैठी हो और उनके स्वत्वों, उनकी मान-मर्य्यादाको पैरोंके नीचे कुचलकर अहङ्कारी, सशक्त और प्रभावशालिनी वन गई हो, तो क्या धर्म अथवा न्यायके अनुसार वह जाति इज्जतदार समझी जायगी?

प्रतिष्ठित मनुष्य तो प्रत्येक जातिमें मिलते हैं, परन्तु ऐसी कोई जाति नहीं मिलती जिसमें प्रतिष्ठाका अभाव न हो। प्रत्येक

जाति कभी न कभी कुछ न कुछ करके अपनी प्रतिष्ठाको कलुषित कर डालती है। यह बात और है कि उसमेंके थोड़े बहुत मनुष्य ऐसे अवश्य निकलेंगे जो प्रतिष्ठा और मानको ही अपनी सारी सम्पत्ति—अपना सर्वस्व समझते हैं। ये जातियाँ किस दिन उस बातका दम भरना छोड़ेंगी जिसके कारण वे अपनेको अप्रतिष्ठाके कीचड़में घसीटे लिये जाती हैं?

व्यक्तिशः मनुष्यके चाल-चलनके लिए यह नियम था कि वह इस प्रकारके कार्य करे जिसमें वह दूसरोंके लिए उदाहरण और आदर्श बने। जातिकी सच्चरित्रताके लिए भी यही नियम होना चाहिए। उसको भी ऐसे ही सुकार्य करने चाहिएँ जिनमेंसे प्रत्येकका अनुकरण प्रत्येक मनुष्य करे। यदि ऐसा न हो तो जातिको इस बातका क्या अधिकार है कि वह अपने ही लोगोंको हत्यारा और अपराधी बतावे और उनको इतना कड़ा दण्ड दे? यह जाति स्वयं तो जैसा चाहे वैसा कर ले, उसकी कोई बात नहीं; और यदि उसी जातिका एक मनुष्य कुछ भी अपराध करे तो वही जाति उसकी खाल खींचने लग जाती है। इसलिए यदि किसी देशमें अपराधी हैं, तो उनका होना बिलकुल उचित और न्यायसंगत है। वह देश इसी योग्य है कि उसमें अपराधी बसें।

एक नागरिक अपने देश या जातिकी अपेक्षा अधिकतर धर्म्म-निष्ठ और ईमानदार क्यों हो? और अब तक ऐसा क्यों होता चला आया है कि उन्हीं पापकृत्योंके लिए समस्त मातृभूमि तो आत्मप्रशंसाकी डींगें हाँकती है और उन्हींके लिए उसी मातृभूमि पर रहनेवाले मनुष्य धिक्कारे जाते और फाँसी तक लटका दिये जाते हैं? ऐसा क्यों होता है कि राज्याधिकारी तो उसी मातृ-भूमिके नाम पर अत्यन्त घोर और निंद्य कर्म कर डालते हैं और बेचारे नागरिक उन्हीं कामोंके कारण कमीने और नीच कहे जाते

हैं ? जर्मनीमें रहनेवाला एक मनुष्य यदि बेलजियममें रहनेवाले किसी मनुष्यका धन लूट ले तो वह कड़ा दण्ड पावे; और समस्त जर्मनी मिलकर उसी बेलजियमके एक नहीं हजारों लाखों मनुष्यों-के घरोंको खूब लूटे तो उसकी प्रशंसा हो। वाह! वाह! आस्ट्रिया-का एक मनुष्य सर्वियाके एक नागरिकके प्राण हर ले तो सूली पर चढ़ा दिया जाय; और यदि उसी आस्ट्रियाकी समस्त जाति हजारों सर्वियनोंका खून बहावे तो वह अपनेको कृतकृत्य माने और अपने राजभवनोंकी छत पर आत्मश्लाघाका ढोल बजावे! वाह वाह!

सच पूछिये तो मातृभूमिको ही अच्छी बातोंके लिए उदाहरण खड़ा करना चाहिए। मातृभूमि अपना जैसा उद्देश्य और आदर्श रखेगी, उसीका अनुकरण उसके पुत्र—उस देशके लोग करेंगे। यदि व्यक्तिशः मनुष्यके लिए किसी शक्तिहीनके साथ दुष्टताका आचरण करना और अरक्षित पर अपनी शक्तिका प्रयोग करना घृणित और निर्लज्जतापूर्ण कर्म्म समझा जाता है, तो एक जातिका भी इस प्रकारके कार्य करना वैसा ही निर्लज्जतापूर्ण और निंद्य समझा जाना उचित है।

यदि एक मनुष्यके लिए यह लज्जाकी बात समझी जाती है कि वह अपने पड़ोसीके भेद जाननेके लिए जासूस बने और अपना स्वागत करनेवाले गृहस्थके साथ विश्वासघात करके अपने वचनका पालन न करे, तो उसके समस्त देशका भी ऐसा ही मन्तव्य होना चाहिए कि वह भी इन कुत्सित बातोंसे घृणा करे।

यदि कोई मनुष्य धोखेबाजी या धमकीसे लाभ उठाता है या उद्दण्डतासे अपना काम निकालता है, तो वह निर्लज्ज और अप-राधी ठहराया जाता है। इसी प्रकार यदि कोई समस्त जाति ऐसे नीच उपायोंसे लाभ उठाती है तो वह भी तो निर्लज्ज और अप-

राधी ठहराई जानी चाहिए। और यदि उस जातिका कोई मनुष्य, उस देशका कोई नागरिक अपनी जातिके ऐसे अनुचित और घृणित कार्य्योंमें सहयोगी या सहायक बने, या अन्य देशोंमें जाकर उसका राजदूत बनकर अपना वेतन माँगे, तो वह भी निर्लज्ज और अपराधी ही समझा जाना चाहिए। यदि वह सच्चा देशहितैषी है, तो वह ऐसा कभी न करेगा और न होने देगा।

प्रत्येक मनुष्य देशहितैषिताकी बात कह रहा है, और ऐसा करना उचित भी है। देशहितैषिताकी खूब प्रशंसा होनी चाहिए। परन्तु इस भावको उन्नत बनाना आवश्यक है, न कि नीच और कमीना। पर कई प्रकारसे यह बहुधा नीच और कमीना हो ही जाता है। एक जातिके मनुष्य—एक देशके लोग देशानुरागसे प्रेरित होकर देशोपकारके लिए पाठशाला, औषधालय, वाचनालय, अनाथालय आदि बनानेके हेतु, प्रचुर मात्रामें धन दान करें। देशहितैषिताका यह कार्य बहुत ही श्लाघनीय है। परन्तु यदि वे ही लोग ऐसे प्रेमयुक्त और दयापूर्ण भावसे प्रेरित होकर अपना धन तो न्यूनांशमें व्यय करें और दूसरी जातियों—अन्य देशोंका धन लूट लावें, और फिर अपने इस कुत्सित कार्यकी प्रशंसा करें और देशानुरागका राग अलापें, तो यह कहाँका न्याय, कहाँका धर्म्म और कहाँकी नीति है?

जन्मभूमि मनुष्यकी प्रधान माता है। परन्तु ऐसा कौन नीच होगा जो अपनी माताको निर्दय, पाशव, झूठी और लुटेरी बनाना अच्छा समझेगा? प्रत्येक योग्य सन्तान यही चाहती है कि मेरी माताका सुयश फैले, मेरी माताके कार्य अच्छे हों, मेरी माताके भाव सौहार्द्र और अनुकम्पापूर्ण हों।

परन्तु यह कितने अन्यायकी बात है कि प्रत्येक देशमें ऐसे बहुतसे देशहितैषी हैं जो उस समय अत्यन्त प्रसन्न होकर अभि-

मान करते हैं जब उनकी मातृभूमि—जो उनकी प्रधान माता है—दूसरोंकी सम्पत्तियों और राज्योंको दबा बैठती है, किसी दीन-हीन और शस्त्रविहीन जातिकी हिंसा कर डालती है और किसी अरक्षित जन-समुदायको गुलामी या दासत्वके पदको पहुँचा देती है। ये सब निन्द्य कर्म्म हैं, और जो इनको करे, उसको धिक्कारा जाता है। परन्तु जब ये सब काम माताजी करती हैं, तब उनके सपूत उनकी प्रशंसाके पुल बाँधने लगते हैं। यदि किसी एक मनुष्यसे या कई मनुष्योंसे कोई नीच और घृणित कार्य हो जाता है, तो उनके माँ-बाप शर्मके मारे अपना मुँह छिपाते फिरते हैं। परन्तु वे ही देशानुरागी माँ बाप, जब उनकी जन्मभूमि माता कुछ ऐसा ही कुकर्म्म कर गुजरती है, तब मारे घमण्डके फूले नहीं समाते और उसके गुणगानसे कानोंके परदे फाड़ डालते हैं।

सच्चा और वास्तविक देशानुराग इस प्रकारका नहीं होता। जिस प्रकार किसी शिकारी कुत्तेको शिकारका पीछा करने और मारनेके लिए उसकाया जाता है, उसी प्रकार एक देशके लोगोंको किसी गरीब जातिका पीछा करने और उसको मारकर अधिकृत करनेके लिए उत्तेजित करना, और उसी कुत्तेकी नाईं जब वे उस गरीब जातिका नाश करके और शिकारकी तरह उसको अपने जबड़ों और दाँतोंमें पकड़कर लावें तो उनकी प्रशंसा करना, करतलध्वनियोंसे उनको और भी भड़काना और 'शाबाशी' दे देकर उनकी पीठ ठोंकना देशहितैषिता या देशानुराग नहीं है।

सच्चे देशानुरागी वे ही हैं जो उन कृत्योंके कारण जो दूसरों-को घमण्डसे भरते हैं, लज्जित होकर अपना सिर नीचे कर लेते हैं। सच्चे देशप्रेमी वे ही हैं जो उस समय रोते और अपनी ग्रीवा-को लज्जासे नीचे झुका लेते हैं, जब उनकी मातृभूमि पापसे कमाये हुए धनसे धनवती बनती है। क्योंकि जब वह ऐसी नीच कमाईसे

धन इकट्ठा करती है, तब उनकी दृष्टिमें वह धनवती नहीं, बल्कि दीन, शक्तिमती और सुन्दरी नहीं बल्कि बलहीन और कुरूपा बन जाती है। उस समय उनकी माँ उनको फटे वस्त्र पहने और झूठे आभूषण लादे दिखाई देती है।

ऐसे थोड़ेसे खरे देशहितैषी कहाँ हैं जो अपनी जन्मभूमि माताको इतना प्यार करते हैं कि वह खरी और पवित्र बनी रहे; जो उसकी किसी ऐसी बातको उचित नहीं समझते जिससे उसका अधःपतन हो, जिससे उसका मुख रुधिर और कीचड़से भर जाय और जिससे उसको कष्ट और लज्जासे पीड़ित होना पड़े?

ऊपर लिखी हुई बातें निरी आरम्भिक और प्राथमिक हैं। और अब भी हममें इतना पशुत्व है कि हमें इन साधारण नैतिक नियमोंको भी आदर्शोंके समान समझना पड़ता है। परन्तु हमें आरम्भसे ही आरम्भ करना चाहिए। प्राथमिक बातें भी हमें अवश्य करनी चाहिएँ। इसीमें हमारी आजकी उन्नति है।

एक मनुष्यको एक घर या कुटुम्बमें जैसा होना चाहिए, एक घर या कुटुम्बको एक नगरमें जैसा होना चाहिए, एक नगरको एक प्रान्तमें जैसा होना चाहिए और एक प्रान्तको एक देशमें जैसा होना चाहिए, वैसा ही एक देशको समस्त संसारकी जातियोंके समाजमें होना चाहिए।

देशके लिए यह सीखना आवश्यक है कि वह स्वयं अपने ही लिए जीवित न रहे बल्कि दूसरे देशोंके लिए भी जीवित रहे। इसी सिद्धान्तमें—इसी नियममें—मनुष्यों तथा जातियोंका सम्पूर्ण कल्याण है। यही नैतिक और धर्मपूर्ण नीति अखिल जगत्‌के लिए अत्यन्त लाभदायक और आनन्दप्रद होगी।

भविष्यमें प्रत्येक जाति इस बातका अनुभव करेगी—योरप-

भी ज्ञानियोंने तो स्वीकार कर लिया है—कि इस जगमें आनन्द और मोक्षकी प्राप्ति करानेवाले मार्गको छोड़कर यदि वह किसी दूसरे मार्गको ग्रहण करेगा, तो वह मार्ग उसको मृत्युके मुँहमें पहुँचाकर ही छोड़ेगा।

जातियोंका आदर्श

एक जाति या मनुष्यका महत्त्व इसी बातमें माना जाता है कि वह मनुष्य या जाति अपने किसी स्वीकृत आदर्शका पालन किस सीमा तक करती है। जैसे यह देखना आवश्यक है कि एक मनुष्य या जातिका उद्देश्य या आदर्श कितने महत्वका है, वैसे ही यह भी देखना आवश्यक है कि उस उद्देश्य या आदर्शके अनुसार कार्य किस सीमा तक किया जाता है। जितना सामंजस्य एक आदर्श और उसके परिपालनमें होगा, उतना ही उस मनुष्य या जातिका बड़प्पन होगा। क्योंकि बहुधा यह देखनेमें आता है कि जो आदर्श होता है, आचरण उसके विरुद्ध होता है। कहा कुछ और जाता है, और किया कुछ और जाता है।

इस संसारका, जो अब मर रहा है, आदर्श क्या था? यदि उसके कहनेको ही प्रमाण मान लिया जाय तो इस संसारके कितने अच्छे आदर्श और उद्देश्य थे! मनुष्यत्वके नभमंडलमें उसके कितने उच्च और उचित सिद्धान्त दमक रहे थे! स्वतन्त्रता, न्याय, विज्ञान, उन्नति, सभ्यता इत्यादि सभी बड़ी बड़ी बातें उसमें भरी पड़ी थीं। परन्तु इस निरी कहनेकी बातको छोड़कर जब उसी संसारके कृत्योंकी ओर दृष्टि डाली जाती है, तो कितना भयंकर अन्तर दिखाई देता है। इसके आदर्शों और कार्योंके मध्यमें कितनी गहरी खाई पड़ी हुई है। जो उत्तमोत्तम उद्देश्य लपलपाती हुई जीभसे कहे गये थे, और जितने घोर निन्द्य और नीच

कार्य हाथोंसे किये गये, उनमें कितना भारी अन्तर है ! पृथ्वीतल और आकाशमें, रात और दिनमें, काले और सफेदमें भी उतना अन्तर नहीं होगा जितना अन्तर संसारके उद्देश्यों और कार्योंमें रहा है।

उन जातियोंने, जो अपनेको बड़ी—महती—मानती हैं, स्वतन्त्रताका क्या उपयोग किया? उन्होंने स्वतन्त्रताका पट्टा स्वयं अपने ही लिए लिखा लिया। उन्होंने इसके नामकी चिल्लाहट तो इतने उच्च और तीव्र स्वरसे मचाई, परन्तु स्वयं अपने अतिरिक्त दूसरी जातियोंको उन्होंने इसमें हाथ भी न लगाने दिया। उन्होंने स्वतन्त्रता स्वयं ही भोगी; दीन हीन जातियोंको नहीं भोगने दी। इतना ही नहीं, वे यहाँ तक स्वतन्त्रताको काममें लाना चाहती हैं कि इसके बलसे अन्य जातियोंको गुलाम बना ले। उनके हाथोंमें आई हुई स्वतन्त्रता स्वेच्छाचार और स्वच्छन्दतामें परिणत हो गई।

उन्होंने न्यायका क्या उपयोग किया? स्वयं अपने स्वत्वोंके हेतु उन्होंने उसको एक प्रकारका बीमा बना लिया। न्यायको स्वयं अपनी ही रक्षा करनेके लिए वे काममें लाईं। परन्तु दूसरी जातियोंके स्वत्वोंको उन्होंने शक्तिके गजसे नापा। दूसरोंके लिए न्यायका आचार नहीं किया। न्यायपत्र केवल अपने ही घरोंके द्वारों पर लटका रखा।

विज्ञान किस काममें लाया गया? केवल अपनी लालसाओं—अपने लालचोंकी पूर्तिके लिए ही उसका प्रयोग किया गया। मनुष्यको मारनेके लिए पुराने प्रकार ठीक नहीं समझे गये। उसको जहाँका तहाँ नष्ट करनेके लिए हावीजर, मैशीन गन, जैक जानसन, कारतूस, बारूद, गोलियाँ, सुरंगें आदि बनाई गईं। आकाशमें उसकी हत्या करनेके हेतु हवाई जहाज और व्योमयान रचे गये। पानी पर उसके प्राण लेनेके निमित्त टारपेडो, ड्रेडनाट

इत्यादि निर्मित किये गये। इन सब मारण-सामग्रियोंको रचनेके लिए ही विज्ञान विद्याका उपयोग किया गया। इतिहासमें इन जातियोंके लिए अवश्य यह लिखा जायगा—"उन्होंने ज्ञान-विज्ञान बहुत प्राप्त किया, परन्तु केवल कुत्सित कार्योंके सम्पादन-के हेतु उसका प्रयोग किया।"

सभ्यता किस काममें लाई गई ? अपने शस्त्रोंकी संख्या पर अवलम्बित स्वत्वको ही उन्होंने सभ्यताका रूप दिया। सभ्यता अपने निन्द्यतम और नीचतम कर्म्मोंको छिपानेवाला बहाना बना ली गई। वह मानों जालसाजीको छिपानेवाला स्वाँग है। अपने घर पर अर्द्ध रात्रिके समय घोरतमसे घोरतम पाप करनेवाला मनुष्य भी किसी विशाल भवनमें खड़ा होकर, अच्छे वस्त्र पहनकर पेटमें गई हुई ब्रांडीकी एक बोतलकी दुर्गन्धिको लवेन्डरकी सुगन्धिसे छिपाता हुआ व्यभिचार या मदिरा-पानके निषेध और नीति या विद्या-प्रचार पर व्याख्यान दे और करतलध्वनिसे उसका सत्कार किया जाय और वह पूरा सभ्य कहलावे ! किसी मनुष्य या जातिके चाहे जैसे दुराचरण हों, यदि वे छिपे हुए रहें, तो उसमें कोई हानि या आपत्ति नहीं। वह पूर्णतः सभ्य है। सभ्यताका मानों वास्तविक तात्पर्य्य ही यह हो गया कि आडम्बरके द्वारा दुष्टता खूब छिपाई जाय। शिव ! शिव ! क्या अच्छा सिद्धान्त है ! शायद ऐसे ही लोगोंके लिए कहा गया है कि 'बद अच्छा, बदनाम बुरा'। किसी मनुष्यमें चाहे दुनियाँ भरके दोष हों, परन्तु जब तक वह प्रति दिन हजामत बनाकर चेहरेको चिकना-चुपड़ा रखे, साफ सुथरे वस्त्र पहनता रहे, लोगोंके साथ बातें करते समय अश्लील शब्दोंका प्रयोग न करे, रुपया-धेली चन्दोंमें देता रहे, समाचारपत्रोंको पढ़ता रहे, तब तक समाज उसको सभ्य, तहजीबदार और लायक़-फायक़ बताता है। और मजेकी बात यह है कि ऐसा

मनुष्य जिसके भाव उदार हैं, परन्तु जिसके मुँहमें तेज तर्रार जबान नहीं है, जिसके तन पर कपड़े साधारण और फटे पुराने हैं, परन्तु जिस पर लज्जाका उज्वल वेश रहता है, जिसके पास धन नहीं है, परन्तु जो सारा दिन पसीना बहाकर कड़ी मजदूरी करके अपना और अपने दस पाँच अशक्त कुटुम्बियोंका पेट भरता है, जिसके हृदयमें दया, प्रेम और सत्य भरा हुआ है परन्तु विद्याभ्यास न करनेके कारण जिसको अच्छी तरह बोलना या पढ़ना-लिखना नहीं आता, वह निपट गँवार और असभ्य कहलाता है। जैसी एक मनुष्यकी व्यवस्था है, वैसी ही एक जातिकी भी है। और जैसी एक जातिकी व्यवस्था है, वैसी ही समस्त जातियोंकी है। सभ्यता तो अब कोरी दिखावटका नाम पड़ गया है।

मनुष्यत्वका क्या उपयोग किया गया है? वह लाभोंका एक क्षेत्र और नफोंका गरमागरम बाजार हो गया है। इन महती जातियोंने छोटी और शक्तिहीन जातियोंको इस प्रकार क्रय-विक्रय, खरीद-फरोख्तकी वस्तु समझ लिया है, जैसे गौएँ-भैंसें, और भेड़-बकरियाँ घी, दूधके लिए लाभदायक और मोल लेने या बेचनेके योग्य समझी जाती हैं।

यही कारण है कि स्वतन्त्रता, सभ्यता, मनुष्यता इत्यादि बड़े बड़े शब्दोंका प्रकाश इस भयंकर संग्रामकी धुँधली और रक्त जैसी लाल ज्वालामें परिणत हो गया है।

जातियोंका पुराना आदर्श "महत्ता" था। परन्तु वास्तवमें यह आदर्श तुच्छ था। क्योंकि यह महत्ता केवल भौतिक पदार्थों-की—संसारिक सुखों और विलासोंकी सामग्रीकी—प्राप्तिमें ही थी। यह महत्त्व बाह्य और स्थूल था, न कि आभ्यन्तरिक और सूक्ष्म। जो कुछ संसारके हिसाबसे गिना जाना चाहिए, वही गिना जाता था। पर जो कुछ नैतिक और स्वर्गीय लाभके लिए

गिना जाना चाहिए था, वह मध्यम और गौण समझा जाता था। उन्होंने अपने आपको शक्ति और धनसे बड़ा बनाना चाहा। उस शक्तिसे जो धनसे उत्पन्न होती है और उस धनसे जो शक्ति द्वारा उत्पन्न होता है, उन्होंने महत्त्व प्राप्त करना चाहा। अपने अधीनस्थ राज्योंकी संख्या बढ़ाकर उन्होंने महत्त्व प्राप्त करना चाहा। उनका यही सिद्धान्त रहा कि जितने अधिकतर राज्य हमारे नीचे होंगे, उतने ही अधिकतर हम बड़े होंगे। क्योंकि राज्यों पर—उपनिवेशों पर अधिकार जमानेसे शक्ति और धन दोनों ही प्राप्त होते हैं। इसलिए जिसको वे भूलसे अपना स्वत्व समझते थे, उसके रक्षणके लिए उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया—अपना सब कुछ होम कर दिया। और उन्हीं स्वार्थपूर्ण स्वत्वोंके निमित्त उन्होंने संग्राममें अपना जीवन तक अर्पण कर दिया।

"प्राप्त करो और जीतो"—बस यही उनकी कार्यप्रणाली थी—यही उनका उद्देश्य था। वे इसी सिद्धान्तके पारंगत हो गये थे। उन्होंने पृथ्वीको आपसमें ही बाँट लिया था। इससे अधिक वे और क्या करते? वे हिस्सेदारोंकी संख्या कम करके पृथ्वीके फिरसे भाग न करते तो और क्या करते? वे एक दूसरेमें घुसकर, उनमें होते हुए अपना मार्ग ढूँढ़कर अपनी शक्तिको और भी विस्तृत न करते तो और क्या करते? बस अब वे यही करना चाहते हैं—इसीके उद्योगमें लगे हैं।

जब तक इस पृथ्वीतल पर ऐसी जातियाँ बसती रहेंगी जिन सबमें भौतिक प्राप्तियोंकी अतृप्त वासना समान भावमें विद्यमान हो, तब तक वे इसी प्रकारके काम करती रहेंगी। इस समय संसारकी समस्त जातियोंको स्थूल पदार्थोंको अपने अधिकारमें लानेकी अत्यन्त भूख लग रही है। जब तक उनकी यह भूख बनी रहेगी, तब तक वे एक दूसरीसे 'जूती पैजार' किये बिना—एक

दूसरीके पेटमें छुरा भोंके बिना—न रह सकेंगी। जब तक उनमेंसे दो जातियाँ भी एक दूसरीके सन्मुख यह भूख बुझानेके लिए खड़ी रहेंगी, तब तक वे आपसमें मार काट करती ही रहेंगी।

क्या इस सम्बन्धका अब तकका अनुभव यथेष्ट नहीं है? और फिर भी क्या ऐसे अनुभवको दोहरानेकी सदा आवश्यकता बनी रहेगी? प्राचीन कालकी कितनी ही बादशाहतों—कितने ही साम्राज्यों—के नाश और अधःपतन इतिहासोंमें अंकित हो चुके हैं। प्राचीन कालकी कितनी धनवती, शक्तिमती और विजयशालिनी सरकारोंके नाशोंके चिह्न और संकेत—उनके खंड़हरोंके निशान—इस अन्धे मार्ग पर, जिस पर अबकी सरकारें चलना चाहती हैं, स्थान स्थान पर दिखाई दे रहे हैं? यूनान, रोम, कार्थेज इत्यादि साम्राज्योंके नाशके चिह्न अब तक उन देशोंके क्षेत्रोंमें दिखाई दे रहे हैं और उनके स्वार्थपूर्ण सिद्धान्तोंके परिणामका साक्षात् परिचय दे रहे हैं। अब तो आधुनिक महती जातियोंको भी यह जान लेना चाहिए कि उनका शक्ति प्राप्त करनेका पागलपन और लाभ उठानेका लालच उनको कहाँ ले जा रहा है।......

इस मरणोन्मुख संसारने—मरण-शय्या पर पड़े हुए इस जगत्ने—भौतिक पदार्थों ही पर अपना अधिकार जमाया। यह उचित ही हुआ; क्योंकि मनुष्यत्वका भौतिक पदार्थों पर भी अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है। पर मनुष्यत्वके दो अंग हैं। एक स्थूल और एक सूक्ष्म—एक बाह्य और एक आध्यात्मिक। स्थूल वस्तुओंकी प्राप्ति स्थूल शरीरके लिए अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु आध्यात्मिक शरीरके हेतु सूक्ष्मताओंका भी तो प्राप्त करना उतना ही आवश्यक है। मरनेके लिए पैर पसारे हुए इस संसारने केवल स्थूल वस्तुओंको ही प्राप्त करनेके लिए उद्योग किया और इस संकुचित सीमा तक ही अपनी दौड़ रखनेके कारण इसने इस

सीमासे टक्कर खा ली और अपने आपको चूर चूर कर लिया। क्योंकि प्रकृतिकी यही इच्छा है कि संसार इस संकीर्ण सीमासे आगे बढ़े। प्रकृति माताकी यह प्रबल इच्छा है कि जातियाँ आध्यात्मिक उन्नति करें और स्थूल पदार्थोंको पाकर ही बस न करें। जो जातियाँ प्रकृतिकी आज्ञा मानकर उसके पीछे पीछे नवीन आदर्शकी ओर बढ़ेंगी—आध्यात्मिक और सूक्ष्म गुणोंको ग्रहण करेंगी—वही जीवित रह सकेंगी। जो जातियाँ ऐसा करने-से मुख मोड़ेंगी वे अवश्यमेव नष्ट होंगी।

महत्ताका वास्तविक मान विस्तारमें नहीं है। किसी जातिका बड़प्पन इस बातमें नहीं है कि उसका राज्य कितनी दूर तक फैला हुआ है। जातिका आदर्श उच्चताकी ओर बढ़ना होना चाहिए, न कि पृथ्वी पर अपना विस्तार करना। प्रकृतिने ऊपरकी ओर आकाश इसी वास्ते रखा है कि सृष्टि उन्नति करे, ऊपरकी ओर बढ़े। ऊपरकी ओर इतना विस्तृत स्थान है कि हम चाहे जितने उन्नति हों, तो भी अपने जैसे किसी दूसरे प्राणीसे या किसी स्थूल वस्तुसे नहीं टकरा सकते। परन्तु यदि हम इस भूतल पर अपना प्रसार करें, तो स्थूल-पदार्थों और अन्य मनुष्यों-से टक्कर खाये बिना नहीं रह सकते। पृथ्वी पर यदि कोई जाति अपनी सीमासे आगे बढ़े, तो उसका तात्पर्य यही है कि वह किसी दूसरी जातिकी भूमिको दबा रही है। परन्तु यदि वही जाति ऊपरकी ओर बढ़े अर्थात् आध्यात्मिक उन्नति करे, तो उसको किसी अन्य जातिसे लड़ने-भिड़नेकी आवश्यकता नहीं है। किसी जाति-के बड़प्पनका यह प्रमाण नहीं है कि उसके अधिकारमें कितनी भूमि है, बल्कि उसका बड़प्पन इस बातमें है कि उसके पुरुष और स्त्रियाँ, जिनसे वह बनी हुई है, अपनी आध्यात्मिक उन्नति कितनी और किस प्रकार करते है। उन पुरुषों और स्त्रियोंकी

संख्या पर भी उस जातिका बड़प्पन उतना अवलम्बित नहीं है, जितना उनकी योग्यता पर है। उनकी संख्या बढ़नेकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु उनके उन्नत होनेकी आवश्यकता है। वही देश सर्वोत्तम और महत्तम है, जिसकी सीमाएँ चाहे कितनी ही संकीर्ण हों, किन्तु जिसका मनुष्यत्व खूब उन्नत हो।

संसारमें एक देश चाहे जितना छोटा हो, परन्तु यदि वह उदार, उन्नतिशील और सुयोग्य है, तो कौन ऐसा मनुष्य होगा जो इन विशाल साम्राज्योंका, जिनके दूर दूर तक उपनिवेश हैं, नागरिक बननेकी अपेक्षा इस छोटेसे देशका नागरिक बनना पसन्द न करेगा? प्लेटोके समयके एथेन्सका नागरिक होना कैलीगुला सम्राट्के समयके रोमके नागरिक होनेकी अपेक्षा मनुष्यको अधिक पसन्द होगा। महाराज भोजका उज्जैन राज्य उतना विस्तृत नहीं था, जितना देहलीके औरङ्गजेबका था। परन्तु औरङ्गजेबके विशालतर साम्राज्यकी अपेक्षा उज्जैनका स्वल्प राज्य अधिकतर शान्तिप्रिय, उन्नतिशील, विद्यारसिक और योग्य था। इस अन्तरको देखते हुए ऐसा कौन मनुष्य होगा जो देहलीके विस्तृत साम्राज्यकी अपेक्षा भोजके छोटेसे राज्यका नागरिक बनना नहीं पसन्द करेगा?

धन और वैभव भी किसी जातिका आदर्श नहीं हो सकता; क्योंकि रुपया योग्यताका यथार्थ मान नहीं है। यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि धनवान् मनुष्य योग्य और उदार भी अवश्य ही माना जाय। "सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयन्ति" की जो प्रसिद्ध लोकोक्ति है, उसकी यथार्थता केवल भौतिक पदार्थोंकी प्राप्ति तक ही है। मनुष्यके आध्यात्मिक गुण रुपयेसे नहीं खरीदे जा सकते। किसी जातिका चमकता हुआ स्वर्ण वास्तविक धन नहीं हो सकता; किन्तु उसकी विचक्षण बुद्धि और उसके उन्नत भाव ही उसका

उज्ज्वल धन हैं। उसका वास्तविक धन वह है जिससे दूसरोंके भी भण्डार बढ़ते हैं। कोई जाति उसी समय धनवती होती है, जब वह उन्नतिका कोई नया सिद्धान्त ढूँढ़ लेती है और जीवन-निर्वाह-के किसी उच्चतर प्रकारका आविष्कार करके उसका आरम्भोत्सव मनाती है। वह उस समय मालदार नहीं होती जब वह उन्हीं पदार्थोंको जो पहलेसे ही विद्यमान हैं, नीचेसे ऊपरको चुनती हुई उनके ढेरके ढेर लगाती है; किन्तु वह उस समय धनाढ्य होती है जब वह उन वस्तुओंका आविष्कार करती है जो पहलेसे वर्त्तमान नहीं थीं, जब वह समस्त जातियोंके कल्याणमें वृद्धि करती है और जब वह मनुष्यत्वके अन्तरस्थ ज्ञानका प्रसार करती है।

शक्ति भी जातिका आदर्श नहीं है। न्याययुक्त शक्ति केवल वही शक्ति है जो मनुष्योंको आनन्द प्राप्त कराती है। परन्तु वह शक्ति जो निरा ऐंठती है, दमन नीतिका प्रयोग करती है, वह सच्ची शक्ति नहीं है। शक्तिको देवताओंकी नाईं रक्षण, पालन और सुखवर्द्धनके कार्योंमें लगाना श्रेष्ठ है; परन्तु उसको आक्रमण, प्रताड़न और अत्याचार करनेके लिए काममें लाना पिशाचों और राक्षसोंका काम है। वास्तविक विजय—सदैवके लिए स्थायी रहने-वाली विजय—मस्तिष्क और आत्मा पर प्रभुत्व प्राप्त करना है। वास्तविक शक्ति प्रकाश और दीप्ति है। जातिके लिए एक मात्र प्रशंसनीय कार्य्य संसारको प्रकाश देना है, संसारमें ज्ञानका प्रदीप जलाना है।

इसमें सन्देह नहीं कि शक्ति, बल, धन और भौतिक तथा स्थूलविस्तरण आदि अच्छे और महत् पदार्थ हैं; परन्तु ये उसी दशामें महत् हैं, जब ये उन्नत आदर्शोंकी पूर्त्तिमें प्रयुक्त होते हैं। और जातियोंकी आपसमें जो स्पर्द्धा और प्रतियोगिता होती है, वह उसी दशामें लाभदायक हो सकती है, जब जातियाँ आदर्श

प्राप्त करनेकी प्रतिष्ठाके लिए परस्पर वादविवाद करें। जातियोंमें धन कमाने, भोगविलास करने, दूसरोंके राज्य दबाने और फौजें बढ़ानेके कार्य्योंमें स्पर्द्धा नहीं होनी चाहिए। अपितु विद्याका प्रचार कराने, भ्रातृभावका विस्तरण कराने, ज्ञानका प्रकाश फैलाने, आत्मसंयम और दमनका पाठ पढ़ाने, इत्यादि उन्नतिके कार्य्योंके द्वारा सत्य और उच्च आदर्शको प्राप्त करनेके हेतु उनमें परस्पर स्पर्द्धा ठननी चाहिए।

जातियोंके लिए आदर्श वह प्रतीत होता है जो स्वार्थके पूर्ण विरुद्ध और प्रतिकूल हो। क्योंकि आदर्श स्वयं स्वार्थशून्य होता है। परन्तु उनके लिए जो स्वार्थशून्यता है, वही वास्तवमें उनका सर्वश्रेष्ठ स्वार्थ है। परमार्थ ही जातियोंका स्वार्थ होना चाहिए।

जातियोंका सच्चा आदर्श वही होना चाहिए जिसको प्राप्त करनेके हेतु भविष्य प्रयत्न कर रहा है। आजका आदर्श कलकी वास्तविकता है। इसलिए जो जाति इस आदर्शकी जितनी सेवा करेगी, उतने ही अंशोंमें वह भविष्यसे सामंजस्य कर सकेगी। वह जाति अपने ही भविष्यके हेतु निश्चय और साधना करेगी। ऐसा करनेसे ही वह भविष्यमें अपना कल्याण कर सकेगी। वह स्वतन्त्रता, न्याय और उन्नतिका जितना वास्तविक ज्ञान प्राप्त करेगी, उतना ही वह अपने आपको अधिकतर जानेगी। और इसके प्रतिकूल इन सूक्ष्म वास्तविकताओंसे वह जितनी अधिक विमुख होगी, इनको भूलेगी और अपने स्वार्थकी चिन्ता करेगी, अपने भविष्यसे उतनी ही दूर होगी और उसमें विरोध उत्पन्न करेगी। भविष्यसे संग्राम करनेमें बहुत ही शक्तिमती जाति भी अन्तमें परास्त होकर नष्ट हुए विना नहीं रह सकती। और यही कारण है कि समय समय पर बड़े बड़े साम्राज्य एक दूसरेके पश्चात् अपनी स्वार्थान्धताके कारण नष्ट हो गये। अब आधुनिक कालके साम्रा-

ज्योंकी ओर भी दृष्टि डालनी चाहिए। क्या ये भी अपनी खुद-गर्जीके कारण नष्ट हुए बिना रह सकेंगे ? उनमेंसे कौनसा ऐसा है जो नाशसे बच सकेगा ?

कोई जाति स्वयं अपने आपके लिए ही नहीं जीती। प्रत्येक जाति मनुष्यत्वकी सेवा करनेके कारण ही जीवित रहती है। जब तक वह मनुष्यत्वकी शुश्रूषामें लवलीन रहती है, तभी तक वह सजीवित रहती है। और जब वह स्वयं अपनी ही चिन्ता करने लगती है, अपने ही अर्थों और उद्देश्योंको खोजने लगती है, तब भी यदि वे विचार और उद्देश्य ऐसे हों जो स्वतः ही सार्वजनिक लाभके लिए उपयोगी हों, तो उस जातिकी उस सीमा तककी स्वार्थपरायणता कही जा सकती है। परन्तु जब वह सब प्रकारकी सेवा करनेसे हाथ रोक लेती है, तब वह शक्ति जिसके सहारे वह जीवित रहती आई है, उससे दूर हट जाती है। फिर वह जाति दुर्बल और क्षीण हो जाती है, क्योंकि मनुष्यत्व उसको दूर फेंक देता है।

कलके दिन जातियाँ उन नियमोंको, जो आज उनके भयङ्कर भाग्य उनको पढ़ा रहे हैं, जान जायँगी। कोई जाति इतनी मूर्ख नहीं होगी कि उन नियमोंको जाने बिना रह जाय। परन्तु उनमेंसे कौनसी जाति उनको समझनेकी बुद्धि और पहचाननेकी प्रशंसा प्राप्त करनेके लिए अग्रसर होगी ? तब वह कौनसी जाति होगी जो सदैवके लिए आनन्दित होकर दूसरी जातियोंके सामने उदाहरण खड़ा करनेके लिए आगे बढ़ेगी ? वह कौनसी जाति होगी जो मनुष्यत्वको ही अपने जीवनका उच्चतम उद्देश्य बनावेगी और निस्वार्थताको ही सर्वोच्च कानून, आदर्शको ही अपना रक्षक और भविष्यको ही अपना सहायक और मित्र बनावेगी ?

जातियोंकी उन्नति।

पृथ्वीतल पर जो सैंकड़ों देश हैं, वे संसारके सैंकड़ों प्रान्त या इलाके हैं। जो इनमें बसनेवाली सैंकड़ों जातियाँ हैं, वे मनुष्य जातिके सैंकड़ों कुटुम्ब हैं। परन्तु उनमेंसे प्रत्येक कुटुम्ब अपना ही विचार करता है। वह इस बात पर ध्यान नहीं देता कि संसारमें मेरे जैसे जो और बाकी कुटुम्ब हैं, उनसे भी मेरा कोई सम्बन्ध है—वे भी मेरे भाई हैं। उसको भ्रातृभावका पूर्ण ज्ञान नहीं।

वास्तवमें देखा जाय तो बहुतसे ऐसे कुटुम्ब तो आपसमें एक दूसरेको भूल जाते और उनकी उपेक्षा भी करते हैं। वे इस बातका ध्यान नहीं करते कि हम सब एक ही समाजमें रहनेवाले हैं। प्रत्येक कुटुम्ब अपने ही ढंगसे अपना स्वल्प और विशिष्ट जीवन बिताता है और चाहता है कि उस जीवनमें और कोई कष्ट या बाधा न डाले। उसी स्थिति या व्याख्याको ये कुटुम्ब अपनी उन्नति कहते हैं जो उनकी प्रकृतियों और स्वभावोंके अनुकूल होती है। वे कुटुम्ब संसारके प्रान्तीय रक्षक हैं और वे अपने प्रान्तवासियोंकी अनुकूल बातोंको ही अपनी संवृद्धि और उन्नति मानते हैं।

परन्तु कई ऐसे कुटुम्ब भी हैं जिनकी जान पहचान बहुत दूर तक है। उनका अहङ्कार एक ही स्थान पर बैठा रहनेवाला नहीं है। वे बाहरी संसारसे भी अपना परिचय और सम्बन्ध रखते और परहितका भी कुछ ध्यान रखते हैं; क्योंकि वहाँ पर भी स्वयं उनका लाभ है। संसारमें ऐसी कोई बात नहीं होती जिसमें वे सम्मि-

लित न होते हों और जिससे वे स्वयं लाभ न उठाते हों। परन्तु ऐसे कुटुम्ब बहुत अधिक नहीं है। उनकी संख्या एक दर्जनके करीब है। परन्तु वे बहुत बोझल और ऊधमी हैं; और उनका सर्वत्र संघर्ष होनेके कारण उनके अलग अलग हित या स्वार्थ कहीं तो एक हो जाते हैं और कहीं टकरा जाते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि उनके दो दो तीन तीनके संघ बन गये हैं और उन संघोंमें अपने स्वत्वों और लाभोंकी रक्षा करनेके निमित्त स्पर्द्धा और प्रतियोगिता हो गई है। वे समाजमें तो रहते हैं, परन्तु बड़ी बड़ी जातियोंके छोटे छोटे समाजोंमें रहते हैं। वे उसीको उन्नति कहते हैं जो उनकी तृष्णाओंको पूरा करनेमें योग देती है।

दूसरे कुटुम्बोंके लिए यह बहुत ही अच्छा हुआ कि अब तक ये संघ आपसमें स्पर्द्धा करते रहे। क्योंकि यदि बहुत सी न्याय-प्रिय और बुद्धिमती जातियोंका संघ पृथ्वी पर राज्य करे, तो यह एक अभीष्ट और उत्तम बात है। परन्तु यदि बहुत सी ऐसी जातियोंका संघ जो अन्याय और अत्याचार करनेवाली हैं, इस भूतल पर अधिकार प्राप्त कर ले, तो कितनी हानिकारक बात हो जाय? फिर तो वे लुटेरी जातियाँ मिलकर समस्त संसारको लूट लें और निस्सार कर दें। योरपकी पृथक् पृथक् जातियोंका जैसा भाव देखनेमें आता है, उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि यदि कहीं योरपकी समस्त जातियाँ संयुक्त होकर अपना संघ बना लेतीं, तो वह संघ अखिल जगत्को लूटकर उसको पददलित कर देता। परन्तु महासंग्रामने योरपकी जातियोंके इस स्वप्नका बहुत समयके लिए तो अन्त ही कर दिया है। अब वे संयुक्त होकर पृथ्वी पर राज्य नहीं कर सकतीं।

यदि किसी मनुष्यमें स्वार्थका भाव होता है, तो वह स्वार्थी कहलाता और अपनी जातिकी ओरसे धिकारा जाता है कि "यह

समाजसे पृथक् होकर क्यों रहता है ? अपने लाभोंको समाजके लाभोंके अधिकृत क्यों नहीं करता ?" परन्तु स्वयं जातियाँ उसी विद्रोहकारी और अराजकतापूर्ण स्वार्थमें रत रहती हैं, जिसकी वे मनुष्योंके विषयमें घोर निन्दा करती हैं। वे दूसरी जातियोंको या तो अपने दुष्ट कार्य्योंमें सहयोगी बनाना चाहती हैं और या उनको दास बनाना चाहती हैं। अपनी राजसत्ताका वे यह अर्थ करती हैं कि संसारमें इससे बढ़कर और कुछ है ही नहीं। ये कुटुम्ब केवल अपने पवित्र अहंभावको पहचानते हैं और उसीका ध्यान रखते हैं। परन्तु वे इस अहंभावसे दूसरोंका और स्वयं अपना भी नाश करते हैं।

परन्तु यह अहंभाव सबको अन्दर ही अन्दर एक दूसरेसे लड़ाता रहता है, जिसका अन्तिम परिणाम पाशविक युद्ध होता है। स्वार्थता चाहे शान्ति भले ही स्थापित करना चाहे, परन्तु अन्तमें वह संग्रामको अनिवार्य कर देती है। स्वार्थके सामने जातियोंके संघ और सम्मेलन सब व्यर्थ हैं। बल्कि इन संघों और सम्मेलनोंका यह उलटा परिणाम होता है कि वे उस स्वार्थको और भी बढ़ाकर भयंकर कर देते हैं और कष्ट और प्रताड़नका मिश्रण सार्वभौम हो जाता है।

जब किसी जातिके पास नवीन प्रकारके शस्त्र नहीं होते, तब वह गँवार और जंगली समझी जाती है। और जब उसी जातिके पास नवीन अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित बहुत सी सेना होती है, तब वह 'सभ्य' कहलाती है और उस देशकी शान्ति "सैनिक शान्ति" हो जाती है। परन्तु सेनाके रखनेका इसके अतिरिक्त क्या अर्थ हो सकता है कि या तो उस जातिको दूसरी जातियोंके आक्रमणसे पददलित होनेका भय बना रहता है, क्योंकि उसने उन जातियोंको हानि पहुँचाई है: या वह उस सेनाके द्वारा किसी दूसरी

जातिकी भूमि दबाना और उसके रत्नोंको छीनना चाहती है; और या वह अपनी प्रजा पर दुष्टतासे राज्य करती है, इसलिए उसको राज्यक्रान्तिका डर लगा रहता है और जब कभी प्रजा विद्रोह करे तो वह सेनाके द्वारा दबा दी जाय। यह शान्ति वास्तविक शान्ति नहीं है, किन्तु सेनाके भयसे उत्पादित शान्ति है। विचार करनेकी बात है कि बहुत सी जातियोंने आत्म-रक्षाके बहानेसे सेनाओंको बढ़ाया और फिर दुर्बल और हीन जातियोंको दबानेमें उसका उपयोग किया! सभ्यताकी करतूतोंका दीन हीनके साथ संग्राम करना भी एक आवश्यक अंग है, और इस आवश्यक कार्यके लिए 'सभ्य जातियाँ' इसलिए अधिकसे अधिकतर और नवीनसे नवीनतर घातक मशीनें बनाती हैं कि उनके प्रयोग करनेका अवसर हमें एक न एक दिन मिलेगा ही।

इधर तो विज्ञानके कई पंडित इस ओर संलग्न हो रहे हैं और उधर उनसे भी अच्छे वैज्ञानिक आचार्य कुछ और ही सिद्धान्तोंकी रचनामें अपनी योग्यता दिखा रहे हैं। वे बड़े चातुर्यसे यह प्रमाणित कर रहे हैं कि जीवन-संघर्षका, प्राकृतिक चुनावका, और बलिष्ठकी जयका जो नियम पाशविक विकासकी कई बातोंमें अन्तर्लिप्त है, वही मानव जातियोंके विस्तरणमें भी अवश्य काम कर रहा है। परन्तु इस नियमने और भी उत्तमतासे यह सिद्ध कर दिया कि ये जातियाँ अभी तक पाशविक जगत्के बाहर नहीं पहुँची हैं; बहुत सी बातोंमें ये अभी तक पशुओंका ही अनुकरण करती हैं; और निस्सन्देह जब तक ये जातियाँ इसी पाशविक दशामें बनी रहेंगी, तब तक इनमेंसे प्रत्येक जाति बारी बारीसे अपनेसे बलिष्ठ जातिका शिकार होती रहेगी। क्योंकि ऐसी कौन सी जाति है जो सदैव बलिष्ठ ही बनी रहेगी?

परन्तु अब उनके उसी अहम्भावके खेलने, उन कष्टोंके द्वारा

जो वे आपसमें एक दूसरेको पहुँचाते हैं, उनको उत्तेजित करते हुए, उनको उन्नतिके मार्ग पर लाने और पाशविक दशासे मानुषिक दशाकी मंजिल तक पहुँचानेका प्रयत्न आरम्भ किया है। इसलिए अब पारस्परिक सहायता और भ्रातृभावपूर्ण सहयोगके नियमोंके आगमनके सामने उनके पाशविक युद्ध और जंगलीपनके नियम दुम दबाकर भाग रहे हैं। जीवन-संग्राम जीवन-सम्मेलनमें परिणत हो रहा है, और जंगली पशुओंके इस युगके समाप्त होने पर जातियोंका मानुषिक समाज राज्य करने लगेगा।

जातियोंका समस्त इतिहास इसी सीमान्तको पहुँचनेका उद्योग करता रहा है। जातियोंको इस भ्रातृभावके सहयोगके लिए तैयार करनेका बहुत समयसे प्रयत्न होता आ रहा है। शान्तिमेंसे होते हुए और संग्रामोंमेंसे गुजरते हुए लोग एक दूसरेके पास पहुँचकर आपसमें गले मिल रहे हैं। पृथ्वी उनके लिए छोटी हो गई है। उन्होंने अपने निकृष्ट दोषों और उत्कृष्ट गुणोंको आपसमें बदल और बाँट लिया है। उनकी स्थायी सम्पत्तियाँ सार्वभौम सम्पत्तियाँ हो गई हैं। क्योंकि उनमेंसे अब किस जातिका विज्ञान, हुनर, साहित्य या दर्शन-शास्त्र पर ठेका या एकाधिकार रह गया है? ये सब तो अब संसारकी अखिल जातियोंकी समान सम्पत्तियाँ हो गई हैं। कई शताब्दियोंके कार्य्यों और लड़ाइयोंके पश्चात् इन जातियोंके सिद्धान्तों, सभ्यताओं और धर्म्मोंका—उनकी इच्छाओंके अनुकूल या प्रतिकूल—मिश्रण हो गया है। उनकी पारस्परिक ईर्ष्याओंने भी उनको संयुक्त कर दिया है। पृथ्वीके रणक्षेत्रोंमें जीती और हारी हुई सभी जातियोंने अपने जीवन एक कर दिये हैं और अपने मनुष्योंके मृत शरीरों तकको एक ही स्थान पर गाड़ा या जलाया है। उन्होंने अपने रक्तमें भी वह भ्रातृभाव उत्पन्न कर दिया है जिसके लिए कभी किसीकी इच्छा भी नहीं हुई थी।

ईर्ष्या वास्तवमें प्रेमका ही अशुद्ध विरोधी पक्ष है। यह प्रेमके विरुद्ध पहली और गुप्त प्रतिकूलता है। इससे एक ऐसी गहरी निकटता या आपसदारी आती है जो कदाचित् संधियों और सम्मेलनोंसे भी न आती हो। ईर्ष्या अन्धेरे और चक्करदार मार्गोंके द्वारा मनुष्यों तथा जातियोंको एकताकी ओर ले जाती है। एक दिन वे स्वयं उसी बातसे ईर्ष्या करने लगेंगी जिसके कारण वे पहले परस्पर ईर्ष्या करती थीं।

जब लड़ाइयोंके द्वारा वे एक दूसरीसे बिछुड़ जाती हैं, तभी वे जानने लगती हैं कि वे एक दूसरीसे कितनी निकट हैं। जब वे पारस्परिक बन्धनोंको तोड़ती हैं, तभी उनको ज्ञात होता है कि उन बन्धनोंकी संख्या और शक्ति क्या है। जिन बन्धनोंके विस्तारके विषयमें पहले किसी प्रकारका विचार ही नहीं होता था, उनकी विस्तृति उन पर फिर प्रकट होती है। अत्यन्त उदासीन जातियाँ भी जो अपने आपको संग्रामकी केवल दूरस्थ दर्शक समझे हुए थीं, इस बातका अनुभव कर रही हैं कि जब शरीरका एक भी भाग पीड़ित और रुग्न होता है, तब समस्त शरीरको कष्ट पहुँचता है।

शरीरके पृथक् पृथक् भागोंकी एकताका जिस अच्छे ढंगसे आज अनुभव हो रहा है, वैसा पूर्वमें कभी नहीं हुआ था। वर्तमान संग्रामके विस्तारने आधुनिक मनुष्यत्वकी समानता और ऐक्यका परिणाम बता दिया है। दूरसे दूरवाला देश भी इस समरके भूकम्पसे हिले बिना, कष्ट पाये बिना और दुःखित हुए बिना नहीं रहा है। यह एक ऐसी सार्वजनिक और सर्वव्यापक घटना हुई है जिससे अखिल जगत् अनुभव करता है कि हमारे भाग्यमें कुछ परिवर्त्तन हो रहा है। जातियों और पुरुषोंके

पुराने जीवन और पहलेकी व्यवस्थाओंमें भी परिवर्त्तन होगा। क्योंकि एक नवीन युग आरम्भ हो रहा है।........

जीवनकी एक विशाल लहर संसारके ऊपर बह चुकी है। वह योरपसे आरम्भ हुई थी। उसने अमेरिकामें जान डाली और एशियाको निद्रासे जगाया। वे जातियाँ निस्सन्देह सुखी हैं जो बहुत काल तक परिश्रम करके अब विश्रामकी स्वप्नरहित रात्रिमें सो सकती हैं। क्योंकि दूसरी जातियाँ अब मर रही हैं।

जीवनकी वह लहर संसारके चारों ओर परिक्रमा करके अब योरपमें पुनः लौट आई है। परन्तु वहाँ पहुँचते ही वह लहर अग्निको लपटमें बदल गई है और जातीय अभिमान और अहम्भावको खूब जला रही है। क्योंकि योरपके लिए सबसे बढ़कर आवश्यक यह है कि वह 'परदेशीयता' से घृणा छोड़ दे। विदेशियोंके प्रति उसकी यही घृणा उसके जातीय अहङ्कारको जला रही है। जातियोंको सीखना चाहिए कि वे एक दूसरीकी स्वामिनी न बनना चाहें, बल्कि समस्त मनुष्यत्वकी सेविकाएँ या परिचरिकाएँ बननेको ही अपना अभीष्ट मानें।

यह सच है कि उन्नति उन्हींसे अपनी सेवा कराती है जो सेवा करनेसे इन्कार करते हैं। और उनसे सेवा कराके फिर वह उनको नष्ट कर देती है। प्राचीन कालकी बड़ी बड़ी बादशाहतें इसी उन्नतिकी अन्धी और अनभिज्ञ दासियाँ थीं। उन्नतिने उनसे सेवा कराके उनको नष्ट कर दिया। आजकी बादशाहतोंके लिए भी वही बात है। अनुचित प्रयत्नोंमें लगी हुई इन बादशाहतोंने, अन्तःकरणसे न चाहते हुए भी, मनुष्योंमें एकता उत्पन्न करा दी। अब वहं एकता अपनी बारी आने पर उनको तंग कर रही है; क्योंकि उनमेंकी जो शक्ति इस एकतामें बाधा डालेगी, वह नष्ट कर दी जायगी। यही इस कार्य्यका फल होगा।

शताब्दियोंके अगणित परिश्रमके द्वारा जातियोंकी इसी एकता-की स्थापनाकी तैयारी की जा रही है। समस्त उन्नतिका, सर्वोत्तम उन्नतिका सिद्धान्त और सीमान्त यही एकता है। जिन जातियोंकी क्रान्तिकारक सरकारोंने इस एकताकी सेवामें अपने आपको विकसित और संलग्न कर दिया है, वे ही अबसे उन्नतिशील जातियाँ कहलावेंगी।

इस एकताका ज्ञान ही किसी जातिके ज्ञान और सभ्यताकी उन्नत या अवनत स्थितिका द्योतक है। जो जाति जिस सीमा तक इस बातका ज्ञान रखती है कि समस्त जातियोंकी एकता ही उन्नतिका शिखर है, उसी सीमा तक वह जाति सभ्य और ज्ञान-वती है। अब आगेसे केवल वही मनुष्य या जातियाँ "सभ्यता" की उपाधिसे सुशोभित होंगी और पूजी जायँगी, जिन्होंने मनुष्य-का मनुष्यके साथ—भूतल पर बसनेवाली समस्त जातियोंका एक दूसरीके साथ—शान्तिमय और अनन्त सम्मेलन करनेके लिए मिलकर प्रयत्न किया है। समस्त संसारकी जातियोंको भ्रातृभाव और स्नेहकी ग्रन्थिमें बाँधनेके लिए जिन जातियोंने सहयोग किया है, वे ही जातियाँ भविष्यमें ज्ञान, विज्ञान और सभ्यताके आभू-षणोंसे अलंकृत होंगी।

जातियोंके अधिकार।
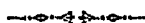
जातिमें जो स्थान किसी मनुष्यका है, अखिल मानव-समाजमें वही स्थान एक जातिका है। जैसे मनुष्यके कर्त्तव्य हैं, वैसे ही जातिके भी कर्त्तव्य हैं; और जैसे मनुष्यके स्वत्व (हक़) हैं, ठीक वैसे ही जातिके भी स्वत्व हैं। नागरिकोंके जिन स्वत्वोंको पहले फ्रान्स देशने घोषित करनेकी प्रशंसा और प्रतिष्ठा पाई थी, वे ही स्वत्व अब जातियोंके लिए घोषित किये जाने चाहिएँ, क्योंकि जातियाँ भी संसारकी नागरिक हैं। व्यक्ति विशेषके अधिकारोंका सारांश बताते हुए जिन तीन सिद्धान्तोंको फ्रान्सने आधुनिक जीवनके द्वार पर अंकित किया था, वे ही तीनों सिद्धान्त जातियोंके अधिकारोंका सारांश बताते हुए आनेवाले समयके प्रवेश-द्वार पर लिखे जाने चाहिएँ।

वे तीन सिद्धान्त ये हैं:—स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभाव।

स्वतन्त्रता—चाहे छोटी चाहे बड़ी सभी जातियाँ स्वतन्त्र होनी चाहिएँ। जो जातियाँ मनुष्यत्वके हितार्थ बड़ी बड़ी बातें करती हैं, वास्तवमें वे ही बड़ी जातियाँ हैं। बड़ी जातियोंके कार्योंकी अपेक्षा छोटी जातियाँ भी समस्त मानव समाजके लाभार्थ श्रेष्ठतर कार्य क्यों न करें? सब जातियोंके लिए इसी प्रकारके कार्य—स्वतन्त्रताका होना उचित है।

स्थितिकी स्वतन्त्रता भी बड़ी आवश्यक है। प्रत्येक जाति चाहे अकेली रहे और चाहे दूसरी जातियोंके साथ अपना संघ बनाकर

अपनी स्वतन्त्र स्थिति रखे। जातियोंके अधिकारों या स्वत्वोंकी नींव और चिह्न यही स्वतन्त्र स्थिति है। सबके लिए यही स्वत्व है। जो अधिकार योरप और अमेरिकाकी जातियोंके लिए हैं, वे ही अधिकार अफ्रीका और एशियाकी जातियोंके लिए भी होने चाहिएँ।

अपनी इच्छाके अनुसार बढ़नेकी और स्वयं अपनी बुद्धिके अनुसार अपना विकास और विस्तरण करनेकी स्वतन्त्रता भी प्रत्येक जातिको होनी चाहिए। मनुष्यत्वकी बहुतसी दशाएँ और शक्तियाँ हैं। जब किसी जातिको इन दशाओं और शक्तियोंमेंसे किसी एक प्रकारकी दशा और शक्तिका प्रकाश करनेमें रुकावट हो जाती है, तब मानव समाजको हानि पहुँचती है। क्योंकि प्रत्येक जाति मानव-समाजकी किसी न किसी शक्तिका और किसी न किसी भाव या प्रकारका विकास कर सकती है। परन्तु जब उसको इस प्रकार प्रकट करनेकी स्वतन्त्रता ही न हो, तब वह क्या कर सकती है ?

प्रत्येक जातिको अपनी ही प्रणाली और अपने ही ढंगसे जीने और प्रबन्ध करनेकी स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। एकताका अर्थ यह नहीं है कि सब बिलकुल एक ही तरहसे रहें। सब प्रकारकी शासन-प्रणालियाँ प्रयोग में लाई जानी चाहिएँ। सब जातियों-को, जैसी वे हैं, रहने दिया जाय, और जैसी वे भविष्यमें बनना चाहें, वैसी उनको बनने दिया जाय। उनको संघ बनानेकी स्वतन्त्रता रहे। जो जो जातियाँ अपने अपने सम्मेलन करें या संघ बनावें, उनको उस समय तक ऐसा करने दो जब तक उनमेंसे प्रत्येक जाति चाहे वह कितनी ही विशाल हो, अपनी मातृभूमिसे भी बढ़िया सार्वजनिक मातृभूमिकी—सारे मानव-समाजकी माताकी—सेवा करनेमें दत्तचित्त रहे।

ये ही स्वतन्त्रताके प्रकार हैं जिनके अनुसार प्रत्येक जातिको अपना भाग्यनिर्माण करने देना चाहिए।

समानता—स्वत्वोंमें सब जातियाँ बराबर हैं। हक़के सामने कोई जाति बड़ी या छोटी नहीं है। जातियोंकी स्वतन्त्रताके हेतु यही समानता इनकी रक्षक है। जब तक सब जातियाँ बराबर न समझी जायँ, तब तक वे स्वतन्त्र रह ही नहीं सकतीं। सभी जातियाँ इस बराबरीकी प्रतिभू या जामिन हैं। जैसे एक मनुष्य पर अन्याय होता है तो समस्त सभ्य मनुष्योंके स्वत्वोंको हानि पहुँचती है, उसी प्रकार यदि एक सभ्य जातिके अधिकारों पर अत्याचारका छुरा चलता है तो समस्त जातियोंके स्वत्वोंको हानि पहुँचती है। सबका यही भाव और मन्तव्य होना चाहिए। यदि किसी निर्बल जाति पर अत्याचार हो तो समस्त जातियोंको और भी अधिक हानि होती है।

न्याय बिना कोई मनुष्य या जाति सभ्य नहीं हो सकती। जब तक सबके लिए समान न्यायका प्रयोग न हो, तब तक सभ्यताका नाम लेना उसको गन्दा करना है। न्यायके सामने हीनसे हीन जातिके भी स्वत्व सुशक्तसे भी सुशक्त जातिके स्वत्वोंके बराबर हैं। क्योंकि स्वत्वोंका मान शक्ति नहीं है। ऐसे भी स्वत्व हैं जो शक्तिके स्वत्वोंके ऊपर हैं—जो शक्तिके स्वत्वोंको भी रोक देते हैं।

सभ्य मनुष्य या सभ्य जाति अपनेसे कमजोर, दीन या गरीब पर अपनी शक्तिका प्रयोग नहीं कर सकती। न्याय केवल अपने ही पक्षमें काममें नहीं आ सकता; दूसरोंके पक्षमें भी वह प्रयोजित होना चाहिए। वास्तविक और उपयोगी न्याय वही है जो सबके साथ किया जाय और जिसकी सब लोग रक्षा करें।

और जब स्वत्वोंमें सब जातियाँ बराबर हैं, तब उनके प्रकाशन आदिमें भी वे बराबर ही हैं। इस नियमके रखनेमें, जिसके द्वारा

उनपर न्याय किया जाता है, उन सबको सम्मिलित होनेका अधिकार है; और जिस सर्वश्रेष्ठ मानवजातिके वे अंग हैं, उसके राज्यमें भी उन सबको योग देनेका समान अधिकार है।

इस सिद्धान्तके अनुसार अखिल मानव-समाजकी सभामें—समस्त मानव जातिकी पार्लिमेंटमें थोड़ीसी जातियाँ ही प्रतिनिधित्वकी बैठकें नहीं प्राप्त कर सकतीं। सभी जातियोंको यह समान अधिकार है कि उस सभामें वे प्रतिनिधि या मेम्बर होकर रहें। समस्त जातियाँ, शुभेच्छाओंवाली जातियाँ—छोटी और बड़ी, धनवती और दरिद्र, स्वामी और दास सभी जातियाँ—उस पार्लिमेंटमें बैठनेकी हकदार हैं। क्योंकि अब कोई जाति दूसरी जातिकी मालिक नहीं बन सकती। कोई गरीब जाति किसी शक्तिशालिनी जातिकी दासी नहीं रह सकती। बड़ी जातियोंको डर क्या है? यही डर है न कि उनका प्रभुत्व छिना जा रहा है? परन्तु यदि उनका स्वामित्व न्याययुक्त है, तो उनका डर व्यर्थ है। क्योंकि वे अपने ज्ञान और बुद्धि द्वारा दूसरी जातियोंको शिक्षा दे सकती हैं—उनकी अध्यापिका बन सकती हैं। अपने बड़प्पनको वे शक्ति और बलसे क्यों बनाये रखें? उनको चाहिए कि वे अपने महत्वके स्वत्वको ज्ञान और बुद्धिके द्वारा रक्षित रखें। आत्माकी शक्ति शस्त्रोंकी शक्तिसे गुरुतर होती है। यदि इन विशाल जातियोंकी संख्या थोड़ी है तो क्या हानि है? जो संख्यामें कम होते हैं, वे ही श्रेष्ठ होते हैं, वे ही संसारके अगुआ या नेता हुआ करते हैं। जब तक वे श्रेष्ठ हैं, तब तक वे अवश्यमेव अगुआ ही बनी रहेंगी। परन्तु ऐसा होना तभी सम्भव है जब कि भ्रातृभावमें न्यायका प्रयोग होता रहेगा।

भ्रातृभाव—पारस्परिक प्रतिष्ठा, श्रद्धा, स्नेह और शुभेच्छाका रखना भ्रातृभाव है। संसारके समस्त देश भाई भाई हैं। पृथ्वी

उन सबको समान माता है। उनके आकाश चाहे पृथक् हों, परन्तु उन पर सूर्य एक ही प्रकाशित होता है। उनके भाग्यानुसार उनको नाना प्रकारकी भूमि मिली है; परन्तु वे एक ही सीमान्तकी ओर बढ़ रहे हैं। वे एक दूसरेको पहचानकर क्यों एक नहीं हो जाते?

अब तक मातृभूमिका स्नेह यदि दूसरे देशोंके मनुष्योंके प्रति ईर्ष्या-उत्पादक नहीं रहा, तो भी अन्यदेशियोंके साथ उसने कमसे कम घृणा और उदासीनताका व्यवहार तो करा ही दिया है। वास्तवमें वे सब मनुष्य चाहे वे सैंकड़ों प्रकार के हों—चाहे उनकी कितनी ही भिन्न प्रणालियाँ हों—एक ही समान मातृ-भूमि, अर्थात् मनुष्यताके प्रकाश हैं। वास्तवमें वही मनुष्य अपनी मातृभूमिके साथ सच्चा स्नेह करता है जो उसको मनुष्यत्वका एक जीवित और जागृत चित्र समझता है। उसकी मातृभूमि संसारका एक अंग है, उसकी जाति मनुष्य जातिकी एक शाखा है। फिर वह अपनी ही मातृभूमिमें दूसरे देशोंका भी प्रतिविम्ब क्यों नहीं देखता? अन्य देशोंकी तस्वीर भी तो उसीके देशमें है। वह दिन निकट आ रहा है जब कि प्रत्येक मनुष्य संसारके अन्य देशोंको भी अपने ही देशके तुल्य समझना सीख जायगा। उस समय मनुष्य चाहे जिस देशमें जायगा, वह यही समझेगा कि मैं मानव-कुटुम्बके पवित्र घरमें जा रहा हूँ।

फिर संसारमें जासूस और गुप्तचर दिखाई भी नहीं देंगे......।

वर्त्तमान समयमें एक देशकी ओरसे दूसरे देशोंमें ऐसे मनुष्य रखे जाते हैं जो प्रख्यात होते हैं; पर फिर भी जिनको लोग अच्छी तरहसे पहचानते नहीं हैं। ये लोग धोखा देनेमें बड़े चालाक होते हैं। तो भी इनको धोखा खानेकी बड़ी निपुणतासे शिक्षा दी गई है; क्योंकि वे योग्यता रखते हुए भी अयोग्य कार्य करते हैं।

पर अब वे भेस बदले हुए शत्रुओंको एक दूसरेके देशोंमें न भेज-कर पारस्परिक मित्रताके संरक्षकों और जामिनोंको भेजा करेंगे। अब उनके विदेशोंमें रहनेवाले प्रतिनिधि—राजदूत—जातियोंके जीवनके दलाल नहीं होंगे जो अपने स्वत्वोंको प्रधान बनानेके लिए भाग्यकी बाजी खेला करते हैं। वे बुद्धिमान् और सच्चे सलाहकार—सार्वजनिक लाभके उत्तरदायी प्रतिनिधि—होंगे जिनकी प्रत्येक देश-में बहुत बड़ी सभा होगी; और वह सभा अखिल मानव-समाज-की सभाके महत्वको बनाये रखना ही अपना ध्येय और कर्त्तव्य समझेगी।

क्या ऐसा होना कोई अनोखा आदर्श है? क्या यह असाध्य आदर्श है? यदि आज कलकी जातियोंसे यह प्रार्थना की जाय कि तुम सब सभ्य मनुष्योंके सिद्धान्तोंका अनुकरण करके एक दूसरे-को गँवारपनके उस जूएसे स्वतन्त्र कर दो जिसके बोझसे वे दब रही हैं और सभ्य जातियाँ बन जाओ, तो क्या बड़ी बात है? एक जाति जो दूसरी जातिके सिर पर स्वामिनी बनी हुई उसको पद-दलित कर रही है, यदि इस कुकर्मको छोड़कर उसको अपने समान समझने लग जाय तो क्या अनोखी बात है?

स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभावके सिद्धान्तोंके अतिरिक्त और कोई ऐसे सिद्धान्त नहीं हैं जिनका अनुसरण करके आधुनिक जातियाँ भविष्यमें संसारका उद्धार कर सकें। यदि इन सिद्धान्तों-का ग्रहण नहीं किया जायगा तो भविष्यमें जातियोंको पारस्परिक दासत्व, अनादर और संग्रामके सिवा और कुछ भी नहीं मिलेगा।

यदि जातियोंका इस प्रकारका स्वतन्त्र, समान और भ्रातृभाव-पूर्ण प्रजासत्तात्मक पंचायती साम्राज्य नहीं बनेगा, तो थोड़ी सी भयंकर, विशाल और अत्याचारी जातियोंका जो कि मानव-समाजका एक स्पर्द्धाशील अंग हैं, एक ऐसा संघ बन जायगा जिसमें आधु-

निक महत्ती जातियाँ प्रधान हो जायँगी और दूसरी छोटी छोटी जातियाँ राज्यच्युत और भ्रष्ट हो जायँगी। यदि ऐसी जातियोंका संघ बन जाय तो उनकी पारस्परिक स्पर्द्धा और ईर्ष्यापूर्ण प्रतियोगिताके कारण उनमें एक ऐसा स्थायी विद्रोह और झगड़ा उपस्थित होगा जो वर्त्तमान युद्धसे कहीं अधिक भीषण, क्रूर और विशाल होगा। वह ऐसा युद्ध होगा जिसका वर्त्तमान समर तो केवल एक आरम्भ, मंगलाचरण, प्रथम दृश्य या सूक्ष्म ढाँचा ही प्रमाणित होगा।

जातियोंने जिस मार्गको पकड़ा है, वह उन्हें ऐसी ही दशाको पहुँचावेगा। उनके चारों ओरके आकाश पर अभीसे राजनैतिक और सैनिक संघोंको विशाल और भयानक राक्षसी परिस्थितियाँ उठती हुई दिखाई देने लगी हैं।

परन्तु प्रकृति डरावने राक्षसोंको पसन्द नहीं करती। वह उनको कई विशेष उद्देश्योंकी पूर्तिके हेतु थोड़े ही कालके लिए उत्पन्न करती है। प्राचीन कालमें जो पिशाच, राक्षस और अद्भुत तथा भयंकर विशाल देहधारी हिपोपोटेमस इत्यादि जन्तु बनाये गये थे, उन्होंने कोई सफलता नहीं पाई। अब भी विशाल जातियोंके जो राक्षस-सदृश संघ बन रहे हैं, वे भी उसी प्रकार कुछ भी सफलता नहीं प्राप्त कर सकेंगे। उनसे जितना आवश्यक और उपयोगी कार्य प्रकृति माताको कराना है, जब वह काम सिद्ध हो जायगा तब वे डरावने पिशाच लुप्त हो जायँगे।

जातियोंसे कुछ उचित और योग्य कार्य करवानेके लिए इन विशाल राष्ट्रसंघोंने जन्म लिया है। उन्होंने अपने सामने अपनी भयानक छाया खड़ी कर दी है जिसको देखकर सब जान जायँ कि यदि हम अपने बुरे मार्ग पर चलनेसे नहीं रुकेंगी, तो हमारे लिए भविष्यमें एक क्रूर दुर्भाग्य बैठा हुआ मिलेगा। जातियोंकी

अराजकतापूर्ण शासन-प्रणालीके थोड़ेसे अंश कुछ कालके लिए चूसकर इन राष्ट्र-संघोंने अपने अहम्भावको इस बातके लिए बाध्य किया है कि वह सार्वभौम प्रजासत्तात्मक शासन-प्रणालीकी दृढ़ता-की ओर एक कदम आगे बढ़ावे। इस आधुनिक संग्रामका जो भावी परिणाम होना चाहिए था, उसको इन्होंने निर्मित कर दिया है। इन्होंने इसको इतना भयंकर बना दिया है कि भविष्यमें समस्त जातियोंको यह सदैव पाठ पढ़ाता रहेगा। इन्होंने इसको इतना नाशक बना दिया है कि यह भूतकालकी सब प्रकारकी रुकावटोंको नष्ट किये बिना नहीं रह सकता। इन्हीं राष्ट्र-संघोंने इस युद्धको इतना विश्वव्यापी बना दिया है कि उसने संसारकी समस्त जातियोंके भावी अधिकारोंको सर्वत्र घोषित कर दिया है। इस संग्रामके द्वारा समस्त जातियोंके समान अधिकारों और स्वत्वोंकी खूब समारोहके साथ सारे संसारमें घोषणा की गई है।

इन विशाल जातियोंको दो बातोंमेंसे एक बातको स्वीकार करना पड़ेगा--चाहे (१) पारस्परिक नाश और संग्रामके हेतु लोहेकी हथकड़ी पहने रहनेवाला सम्मेलन और चाहे (२) समस्त संसारकी समस्त जातियोंका शान्तिमय संघटन और सहयोग।

संसारकी शान्ति।

बहुत कालसे मनुष्य यह जान गये हैं कि हमारी यह बड़ी भारी मूर्खता और पागलपन है कि हम केवल थोड़ेसे समयके लिए इस पृथ्वी पर—इस मिट्टीकी गोली पर जो सारे ब्रह्मांड का एक छोटा सा सितारा या ग्रह है—जन्म लेकर इस भूमि के टुकड़े करने और फिर उन टुकड़ोंके भी टुकड़े करनेके लिए कितनी चतुराई दिखलाते और कितने प्रयत्न तथा परिश्रम करते हैं; हम लोग ज्ञान-प्रकाश और बुद्धि, शक्ति और बल, हर्ष और आनन्दके साथ जीवन व्यतीत करनेके हेतु एक दूसरेकी सहायता न करके मृत्युको अपना काम बनानेमें कितनी सहायता देते हैं।

बहुत दिनोंसे इस पागलपनकी चिकित्सा करनेके हेतु—इस अपराधका अन्त करनेके लिए—उन्होंने बहुत श्रम किया है। परन्तु वे अभी तक सफल क्यों नहीं हुए?

दार्शनिकों और तत्त्ववेत्ताओंने शान्तिकी शिक्षा दी है। अवतारोंने इसीकी घोषणा करने और इसीका प्रचार करनेके निमित्त भूतल पर जन्म लिया है। परन्तु संसारने अभी तक इस शान्तिको प्राप्त नहीं किया। क्योंकि शान्ति स्वर्गका एक दान नहीं हो सकती; वह स्वर्गसे एक पारितोषकके रूपमें नहीं मिल सकती; बल्कि मानव-समाज अपने ऊपर विजय प्राप्त करके वह शान्ति प्राप्त कर सकता है। परन्तु मनुष्यता अभी तक मनुष्योंके हृदयमें नहीं जन्मी थी, इसी कारण अभी शान्ति नहीं प्राप्त हुई है।

साम्राज्योंने—बादशाहतोंने इस शान्तिको स्थापित करनेके लिए उद्योग किया है। बड़े बड़े विजेताओंने शान्तिको बलपूर्वक मानव-समाजमें स्थापित करनेके स्वप्न देखे हैं। पर उनके स्वप्नोंका अन्त हो गया। उनके स्वप्न लोहेके जिरह-बकतरों और कवचोंके बोझसे दबकर नष्ट हो गये। शान्ति शक्तिप्रहारसे नहीं मिल सकती और विनय प्रताड़नसे नहीं उत्पन्न हो सकती। शान्ति संग्रामसे नहीं स्थापित की जा सकती।

आज फिर भी जातियाँ वही पुराना खेल खेल रही हैं। आज वे फिर शक्ति और बलके प्रहारसे शान्तिकी स्थापना करना चाहती हैं। वे समझती हैं कि संग्रामसे ही संग्रामका अन्त हो जायगा, सैनिक बलसे ही सैनिक बलकी प्रवृत्ति नष्ट हो जायगी। यदि यह हास्यास्पद चिकित्सा सम्भव होती तो संग्रामका होना प्राचीन कालमें ही कभीका रुक जाता। जातियाँ आशा और प्रतीक्षा कर रही हैं कि शस्त्रोंकी विजय संसारमें शान्ति स्थापित कर देगी। परन्तु विजेताकी शक्ति, शक्तिमान् मनुष्यकी शान्ति कभी सारे विश्वकी शान्ति नहीं हो सकती। प्राचीन कालमें जैसी शान्ति रोम देशमें हुआ करती थी, वैसी शान्ति संसारको प्रिय नहीं है। जगत् जिस शान्तिकी प्रतीक्षा कर रहा है—जगत्को जिस शान्तिकी आवश्यकता है—वह मानव शान्ति है। वह शान्ति नहीं, जिस पर परास्त जातियोंके हस्ताक्षर हों, किन्तु वह शान्ति जिस पर स्वतन्त्र जातियोंके हस्ताक्षर अंकित हों। संसारको उस शान्तिकी चाह है जिसकी स्थापनाके लिए मनुष्यत्व समस्त जातियोंको आज्ञा दे रहा है।

न तो फौजी ताकत—सैनिक शक्ति—और न सुलहसे पैदा की हुई कमजोरी—शान्तियुक्त निर्बलता—संसारको वास्तविक शान्ति दे सकती है।

दुर्बल 'शान्तिप्रियता' ने इतने आशाजनक ढंग रचे, परन्तु उन सबका अधःपतन हो गया। जातियों और शासकोंके लिए तो मानों इस प्रकारकी 'शान्तिप्रियता' वेदवाक्य हो गई। जार जैसे स्वेच्छाचारी सम्राट्ने भी इस 'शान्तिप्रियता' के गूँजते हुए सन्देशकी घोषणा की और उसकी प्रार्थना पर सब सरकारोंने गुप्त सभाएँ संघटित कीं। शान्तिका मन्दिर भी स्थापित किया गया; और जिस दिनसे इस शान्ति-मन्दिरकी प्राणप्रतिष्ठा हुई, उसी दिनसे ऐसे भयंकर उत्पात, ऐसे भीषण और कष्टजनक संग्राम खड़े किये गये जैसे पहले कभी हुए ही नहीं थे।

योरपके समस्त धर्म्मशास्त्रज्ञोंने—कानून बनानेवालोंने—शान्तिके न्यायालय स्थापित करके ऐसे कानून बनाये जिनके द्वारा "स्वत्व" ही "शक्ति" की अपेक्षा प्रधानतर समझे जायँ। उन्होंने ऐसे भी नियम बना दिये जिनके द्वारा संग्राम करके भी "शक्ति" के मत्थे सब "स्वत्व" मढ़ दिये जायँ। परन्तु उस दिनसे जैसी बुरी तरह स्वत्वोंका शक्तिके द्वारा तिरस्कार, उपहास एवं नाश हुआ, वैसी बुरी तरह और पहले कभी नहीं हुआ था। क्योंकि वे नियम प्रत्येक जातिकी स्वार्थपूर्ण प्रेरणासे बनाये गये थे। उनकी रचनामें ही यह सिद्धान्त रह गया था कि अमुक अमुक राष्ट्र अमुक राष्ट्र पर आक्रमण करें तो अमुक अमुक राष्ट्र उस राष्ट्रसे मिलकर उनका सामना करें; इत्यादि इत्यादि।

सब देशोंके नीतिकारोंने इसलिए एकता की कि संग्राम न होने पावे। उन सबने मिलकर शपथ ले ली थी कि संग्राम होनेकी सम्भावनाके संघटित होने पर हम सब बागी हो जायँगे। उनकी पर-राष्ट्र नीति ही शान्ति-स्थापनाके लिए जिम्मेदार समझी गई थी। परन्तु अब वे समस्त देश उन्हीं नीति-निपुण

नेताओंके द्वारा प्रेरित होकर जिन्होंने पहले भ्रातृभावकी शिक्षा दी थी, लहूकी नदियाँ बहानेके लिए एक दूसरेको मार रहे हैं।

सारांश यह है कि समस्त जातियोंने लोगों पर संग्रामका जादू डालनेके लिए अपनी संधियों और संघोंको खूब ही बढ़ाया। आज तक "शान्तिके सुरक्षणके लिए" इतने संधिपत्रोंने उनको कभी बाध्य न किया होगा। परन्तु अब उन सबमें संग्रामका दुष्ट भूत प्रविष्ट हो रहा है और आज दिन चौदह जातियाँ आपसमें मार-काट कर रही हैं। राम! राम!!

'शान्तितत्व'को घमण्ड हो गया और वह आर्थिक सम्पन्नता और आधुनिक स्थल तथा जलसेनाके प्रबन्धको अपना मित्र समझकर इतरा गया। ऐसा प्रतीत होने लग गया था कि जब समस्त योरपीय जातियोंके पास जल और स्थलकी सुसज्जित सेनाएँ हैं और वे सब आर्थिक द्रव्योंके उत्पादन, संघटन एवं क्रय-विक्रयमें संलग्न हो रही हैं, तो फिर अवश्यमेव शान्ति ही राज्य करेगी और किसी प्रकारका संग्राम नहीं होगा; इस बनियोंके देवताके राज्यमें संग्रामके रणक्षेत्र व्यापारके बाजार हो गये हैं; व्यापारकी प्रतियोगिताके द्वारा उत्पादित शान्तिसे युद्धकी सम्भावना घट गई है; और जिसने व्यापारके पदार्थोंका सबसे अधिक उत्पादन किया, उसी देशको 'विजयश्री' का राजतिलक मिल जायगा। पर वास्तवमें लाभके संसारने ही सारे संसार पर राज्य कर लिया है, और फिर उसको नाशकी ओर भी ढकेल दिया है। इस आर्थिक और व्यापारिक संग्रामने योरपके करोड़ों रुपयों और लाखों मनुष्योंको नाशके घाट उतार दिया है।

उत्पादनने उत्पादकको खा लिया है। पदार्थवादने मनुष्यका रुधिर पी लिया है। नाम मात्रकी व्यापारिक शान्तिने संसारको कँपा दिया है। जिन्होंने जो वस्तुएँ बनाईं, उन्हीं वस्तुओंने उन

बनानेवालोंको उड़ा दिया है। बमों, कारतूसों, बारूदों और तोपोंने उन्हींको मटियामेट कर दिया है, जिन्होंने उनको बड़ी दक्षताके साथ तैयार किया था।

एक बार वादविवादके पश्चात् अन्तमें यह निश्चित भी हुआ था कि आधुनिक मशीनोंकी मारण-शक्तिका भय लोगोंको शान्त रहनेके लिए दबाये रखेगा। परन्तु यह अनुमान भी व्यर्थ निकला। इधर पचीस महीनेसे नरक काण्ड उपस्थित हो रहा है. नरकके कष्टोत्पादक अंग पृथ्वी पर छोड़ दिये गये हैं। मनुष्य और पदार्थ-तत्त्व दोनों ही सहस्रों क्लेशोंसे पीड़ित किये जा रहे हैं। फिर भी संग्राम चल रहा है और विस्तृत हो रहा है। ऐसा क्यों हो रहा है?

योरपकी 'शान्ति' क्यों निरर्थक हुई? क्या कारण हुआ कि योरपकी शान्ति संग्राममें परिणत हो गई? इसका प्रथम कारण तो यह हुआ कि यह शान्ति केवल योरपकी ही थी, समस्त संसारकी नहीं थी। जो शान्ति जातियोंने, उनके धर्म्म-शास्त्रज्ञों और नीतिज्ञों इत्यादिने, उनके मजदूरों और सम्राटोंने स्थापित करनी चाही, वह वास्तविक शान्ति नहीं थी। यह सबकी सबके साथ अर्थात् संसारकी समस्त जातियोंकी पारस्परिक सच्ची शान्ति नहीं थी। यह केवल योरपवालोंकी ही स्वार्थप्रचुर, झूठी और असम्भव शान्ति थी। इसी लिए यह भङ्ग हो गई।

हेगमें जब योरपकी समस्त जातियोंका शान्ति-सम्मेलन हुआ, तब बहुतसे न्यायाधीशोंने शान्तिके विषय पर खूब दलीलें कीं। परन्तु उनका न्याय योरपवालों तक ही संकुचित था। उनका न्याय दूरस्थ उपनिवेशोंकी अभागी दीन और हीन जातियों तक नहीं पहुँचा। उनके रचे हुए नीति-नियमोंने उस शस्त्राक्रमणको, जो अन्य वर्णोंकी असहाय और अरक्षित प्रजाओं पर जातियोंके स्वत्वों, और सभ्य मनुष्योंकी प्रतिष्ठा तथा मानके विरुद्ध हुआ

करता है, नहीं रोका। और जब कभी काले और लाल वर्णोंके लोगों पर इस प्रकारका अत्याचार किया गया तो शायद ही किसी साम्यवादीको प्रतिवाद करनेका स्वप्न आया होगा। हेगके सम्मेलनमें केवल यही निश्चित हुआ कि गोरी जातियोंके अधिकार न कुचले जा सकें। सम्मेलनने इस बातका कुछ भी विचार नहीं किया कि योरपका कोई देश अपने बाहरके उपनिवेशोंकी प्रजा पर मनमाना अत्याचार क्यों करे। शान्तिकारकोंने इन बातोंके लिए अपने मस्तिष्कोंको जरा भी क्लेश नहीं दिया। उपनिवेशोंमें क्या होगा, या क्या होना चाहिए, यह उनके दृष्टिपथ और विचार-शैलीकी सीमाके बाहर था। उन्होंने वादविवाद करते समय केवल एक बातका विचार छोड़ दिया; और वह यह कि जो जाति किसी दूसरी जाति पर तलवार चलावेगी, स्वयं उस पर भी एक न एक दिन तलवारका अवश्य प्रहार होगा। वे इस सिद्धान्तको भूल गये कि आक्रमण करनेवाले पर भविष्यमें प्रतिफलके रूपमें आक्रमण होता है।

स्थायी, वास्तविक और सम्भव शान्ति वही है जो सबकी ओरसे सबके साथ की जाय। जब तक संसारमें एक भी जाति संग्रामका कष्ट भोगती रहेगी, तब तक अन्य जातियाँ शान्ति नहीं रख सकतीं। योरपने केवल योरपमें ही शान्ति रखना चाहा; और स्थानोंमें भले ही उसकी चालाकियोंके द्वारा खून बहता रहे, इसका विचार उसको नहीं हुआ। उसको वह शान्ति न तो मिली, और न मिलेगी। योरपकी लड़नेवाली जातियाँ यदि आपसमें मिलकर सन्धि और शान्तिपत्र पर हस्ताक्षर कर देंगी तो भी यह कार्रवाई नितान्त व्यर्थ होगी। जब तक सारे संसारकी जातियाँ उस पत्र पर अपने हस्ताक्षर न कर दें, तब तक शान्ति हो ही नहीं सकती। यदि योरपवालोंकी भावी कांग्रेस या महासभामें समस्त मानव-

समाज नहीं बैठेगा, तो वह कांग्रेस शान्तिकी स्थापना करनेमें सफलीभूत नहीं होगी। क्योंकि शान्तिका सम्बन्ध समस्त मानव-समाजसे है, न कि दो या चार जातियोंके मनुष्योंसे ही। उस समय मानव-समाज स्वयं ही अपनी जातियोंको शान्ति प्रदान कर सकेगा जब उन सब जातियोंकी सभा होगी और उस सभामेंसे वह शान्ति उद्भूत होकर सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करेगी।

या तो अपने निजके गुलामोंको स्वतन्त्र कर दो जिसमें वे तुम्हारे बराबर बैठ सकें: और नहीं तो शान्तिका नाम भी मत लो।

परन्तु सबसे पहले अपने हृदयोंको स्वतन्त्र बनाओ। उन्हींमेंसे शान्ति और संग्राम दोनों आते हैं। जब तक मनुष्योंके हृदयोंमें शान्ति नहीं है, तब तक शान्तिके लिए प्रयन्त करना कैसे लाभ पहुँचा सकता है? सग्राम उपस्थित होता है और शान्तिके उन सब प्रयत्नोंको बहा ले जाता है।

शासन-संस्थाएँ, नियम–कानून, पंचायती न्यायालय, पर-राष्ट्रीय लिखा-पढ़ी, राष्ट्रीय सभाएँ और सम्मेलन, पारस्परिक विनिमय (Exchange)की वृद्धि, जातियोंके पारस्परिक सम्बन्धोंकी उन्नति, शान्तिप्रद प्रयत्न, शान्तिस्थापक व्यवस्थाएँ ये सब इतनी बातें थीं जो उस नाशकारक महानदीके प्रवाहमें रुकावट डालनेके लिए बाँधके तौर पर लगाई गई थीं। परन्तु संग्राम रूपी महानदीका प्रचण्ड प्रवाह आ ही गया और इन सबको अपने साथ बहा ले गया। जितनी ही अधिक रुकावटें इस प्रवाहमें डाली गई, उतना ही अधिक वह प्रवाह बढ़ गया और उससे उतना ही अधिक नाश हो गया। वास्तविक प्रयत्न यह था कि जातियाँ उस महानदीके उद्गमके पास जातीं और उपर्युक्त बाँधोंसे वहीं उसके प्रवाहको रोक देतीं। परन्तु ये रुकावटें उद्गमके पास तक नहीं

पहुँचाई गई। प्रवाह जब आगे बढ़ गया, तब उसको रोकनेका कार्य्य आरम्भ हुआ। शान्ति बाहरी रुकावटोंसे की गई। पर उससे शान्ति नहीं उत्पन्न हो सकती थी। कोई बाहरी प्रबन्ध संग्रामको नहीं रोक सकेगा, क्योंकि संग्राम हृदयके भीतरसे निकलता है। संग्राम-की जड़ मनुष्यमें है। जब मनुष्य मनुष्यका मान नहीं करता, जब वह मनुष्यत्वसे घृणा करता है, तभी संग्राम उत्पन्न होता है। यही वह उद्गम है जहाँसे खूनकी नदी निकलकर पृथ्वी पर वेगके साथ आती है। वहीं पर—मनुष्यके हृदयमें ही—वह उपाय, वह रुकावट भी मिलेगी जो संग्रामके संघटित होनेको सदाके लिए रोक दे। इस आन्तरिक और मानवशास्त्रके नियमानुकूल प्रति-घात या रुकावटके अभावमें निरी बाहरी रुकावटें तो केवल भ्रामक असम्भावना, शान्तिका आभास और छाया किंवा प्रतिमा खड़ी कर देगी जिसकी आड़में संग्रामका जीवित प्रेत उलटा और भी छिप जायगा।

सभी प्रकारके झूठे दृश्य और मिथ्या आशाएँ अब नष्ट हो गई हैं। पुरानी बातों और व्यवस्थाओंको दबा देना ही यथेष्ट नहीं था। केवल संतुष्ट और तृप्त करनेका अर्थ शान्ति नहीं है। "शान्ति" उन तृप्तियोंके साथ ही नष्ट हो जाती है। परन्तु इसके नष्ट हो जानेसे ही, इसके हार जानेसे ही, इसकी सच्ची जीतके गुप्त भेदका ज्ञान होता है। इसी भेदको जाननेके लिए उस चमकती हुई तलवारकी आवश्यकता थी जो हड्डियोंके जोड़ों तकमें जा घुसती है। संग्राम-ने यह उज्ज्वल तलवार तैयार कर दी है। यह तलवार, यह खूनी शस्त्र अपने आपको ही नष्ट कर देगा।

जिस बातको प्राचीन कालमें सारे साम्राज्य और सारे धर्म्म भी नहीं कर सके, जिस बातको आधुनिक समयकी सभ्यताके कार्य भी करनेमें विफल रहे, जिसको सम्पादित करनेके लिए

सैंकड़ों हजारों बरसोंसे प्रयत्न होता रहा, वह बात अब स्वयं ही सम्पादित और सिद्ध हो जायगी। वह एक नई बात होगी—मनुष्यत्वका ज्ञान मनुष्यके हृदयमें जागृत होना बिलकुल नवीन बात होगी। अब सब मनुष्योंके हृदयोंमें उसी शब्द, उसी महा-मन्त्रका उच्चारण होगा जो शस्त्रों और अत्याचारी शक्तिको परास्त कर सकता है।

और तब फिर मनुष्यके हृदयसे संसारकी शान्तिका जन्म होगा। एवमस्तु !

मनुष्यत्वका ज्ञान।

अनेक शताब्दियोंसे एक बात सुननेमें आ रही है—एक स्वरका उच्चारण हो रहा है। वह बात अन्तःकरणके बिलकुल अन्दरसे निकल रही है। सबने यह बात सुन ली, परन्तु उस पर ध्यान किसीने नहीं दिया। इसके उच्चारण-को रोक भी कोई नहीं सका। बड़े बड़े सम्राटोंको भीषण प्रकारसे आज्ञा दी गई है—"तुम किसीके प्राण मत लो।"

इधर एक दूसरी आवाज पृथ्वीकी ओरसे उठाई गई है। वह भीषण भयकी भीषण पुकार है............ओह ! संग्रामके कैसे रोंगटे खड़े करनेवाले भय हैं ! कैसी भीषण आपत्तियाँ और कष्ट हैं ! इनका तो नाम भी नहीं लिया जा सकता। एक मनुष्य दूसरे मनुष्यके साथ कितने पाप, कितने अपराध करता है। हा ! कलेजा काँप उठता है। वह कौन पापी पिशाच है जो मनुष्यके अन्तःकरणमें छिपा हुआ उससे ऐसे घोर अत्याचार करा रहा है ? सभ्य संसारकी उन्नतिको देखते हुए, बल्कि उस उन्नतिके परिणामकी अपेक्षाका ध्यान रखते हुए इन दुष्टताओंका होना कैसे सम्भव है ?

ये बातें क्यों सम्भव हो रही हैं ? ये घोर अन्याय केवल इस कारण हो रहे हैं कि इस सभ्य संसारके प्रत्येक नगरमें, प्रत्येक ग्राममें, बल्कि प्रत्येक झोंपड़ेमें ऐसी पाठशालाएँ, ऐसे स्कूल, ऐसे मदरसे हैं जिनमें छोटे छोटे बच्चे बैठते हैं और जहाँ उनको

अध्यापक यह शिक्षा देता है कि मनुष्यका सर्वोत्तम कर्त्तव्य वह है जिसके लिए उसका जातीय हित उसको आज्ञा देता है। अर्थात् जब जातीय हित आज्ञा दे, तब मनुष्यके द्वारा मनुष्यकी हत्या भी पवित्र कार्य हो जाती है। और यदि उसका मुखिया किसीको मारनेके लिए उसे हुक्म दे, तो अपने अन्तःकरणके विरुद्ध भी, जो उसको कभी न मारनेकी आज्ञा दे रहा है, उसी क्षण मार डाले।

बच्चा जन्मसे ही इस प्रकार विचार करनेकी शिक्षा पाता है; और उसका फल यह होता है कि प्रत्येक जातिका प्रत्येक मनुष्य एक न एक दिन अपने भाईका ही घातक और उसके लिए कसाई बननेको कटिबद्ध हो जाता है। और इसी लिए फिर कोई अपराध असम्भव नहीं रह जाता; और इसी लिए संग्रामकी विभीषिकाओं-की कोई सीमा नहीं रह जाती।

यह भीषण भयंकरता आरम्भ कहाँसे होती और समाप्त कहाँ होती है? जब आरम्भसे ही बच्चोंको ऐसी शिक्षा मिले तो फिर ऐसी भीषण भयंकरताके आरम्भ और अन्तका क्या पारावार हो सकता है? फिर तो सभी अनहोनी बातें होंगी। यदि किसी जंगली जन्तुको स्वेच्छाचारके लिए खुला छोड़ दिया जाय और फिर उसको मनुष्यत्व ग्रहण करनेके लिए कहा जाय, तो क्या वह मनुष्य बन जायगा? यह अच्छा हो हुआ कि संग्राम मानुषिक और दयासम्पन्न नहीं बना, बल्कि इसने अपने आपको बहुत ही निंद्य, मलीन और हेय बना लिया। यदि यह ऐसा न बनता और इसमें भलाई, दया या धर्म्मका कुछ भी अंश रह जाता तो लोग इससे पूरी घृणा न करते। प्राचीन कालमें लोग मनुष्य-हत्या करनेवालोंका मान किया करते थे। वे स्वयं मनुष्य-हन्याकी पूजा करते थे। परन्तु अब जब संग्राममें धर्म्म, न्याय, दया इत्यादिका लेश भी नहीं रहा, तो लोग इससे इतने रुष्ट और विपरीत हो गये

हैं कि वह दिन अब अवश्य आ जायगा जब मनुष्यके लिए हत्या करना असम्भव हो जायगा और उसका पुराना पागलपन बिलकुल जाता रहेगा।

अब किसीकी हत्या नहीं हो सकेगी। किसी कारणसे किसी स्थितिमें, किसी बहानेसे, किसी आधार पर किसीके प्राण न लेने-का महामन्त्र सबको ज्ञात हो जायगा, और तब स्वयं संग्राम ही मारा जायगा।

जब तक उपर्युक्त महामंत्रके आज्ञा-पालनमें किसी प्रकारकी रुकावट रहेगी, जब तक मनुष्य यह समझते रहेंगे कि जब बहुतसे लोग एकत्र हों तब उनको मारना उचित है, जब तक बहुतसे मनुष्यों-की एक साथ हत्या करनेका कार्य किसी एक मनुष्यकी हत्याकी अपेक्षा उचित और माननीय समझा जायगा, और जब तक एक मनुष्यको दूसरे मनुष्योंको मारनेके लिए वेतन और वर्दी मिलती रहेगी और उसका घातक कृत्य प्रशंसित होता रहेगा, तब तक संग्राम होता ही रहेगा; तब तक संग्राम और उससे उत्पन्न होने-वाले क्लेश और आपत्तियाँ बनी ही रहेंगी।

जब तक सभ्य मनुष्य अपने हृदय और विचारमेंसे उन मनुष्यघातक परमाणुओंको, जो उनमें शिक्षाके झूठे उपयोगसे और शिक्षाकी नीतिके अनाचारके द्वारा भरे जाते हैं, बाहर निकालकर स्वच्छ और निर्मल नहीं कर लेगा, जब तक शिक्षा-प्रचारक लोग बालकोंके नेत्रों और मनोंके सामने संग्राम के—मनुष्यके कतलेआम के—प्रख्यात, प्रशंसनीय और रंगीन चित्र और कहानियाँ उपस्थित करनेको अपना धार्मिक कर्तव्य और मन्तव्य समझते रहेंगे, जब तक यह प्रधान अपराध साधारण अपराधके समान दंडनीय नहीं समझा जायगा और जब तक हिंसा सब अपराधोंमें अति उत्कट और निकृष्ट नहीं समझी

जायगी, तब तक जातियों पर हत्याके निर्दय शस्त्रका प्रहार होता ही रहेगा।

इतना ही नहीं, और भी अधिक अत्याचार किया जाता है। विद्यालयोंकी पुस्तकोंमें साधारण पाठोंके साथ जातीय स्वार्थ और संग्रामके 'उपयोगी' पाठ भी रखे जाते हैं जिसमें बच्चे इन बातोंको और भी अच्छी तरह सीखें। जब तक वह सामाजिक नियम या नीति, जिसको स्वयं उदाहरण उपस्थित करना चाहिए, मानुषिक नियमका उल्लंघन करती रहेगी, जब तक सामाजिक व्यवस्था अपराधियों और पापियोंको भी मनुष्य नहीं समझेगी, जब तक उसके दण्ड अपराधीकी स्थितिके अनुसार निश्चित किये जायँगे, जब तक वह सार्वजनिक अपराधकी सहायताके द्वारा किसी छिपे हुए व्यक्तिगत अपराधके विषयमें उदासीनता और नीचताका व्यवहार करेगी, तब तक वह रक्त जो बहाया गया है, वर्षाकी नाईं सबके मस्तकों पर झड़ी लगाता रहेगा। तब तक कानूनसे स्वीकृत अपराधकी हत्या प्रतिफल स्वरूप रणक्षेत्रमें करोड़ों निर्दोष मनुष्योंकी हत्या कराती रहेगी।

जातियोंको मनुष्यत्व यही अन्तिम सन्देश भेज रहा है।

एक दिन ये बातें बिलकुल नहीं होंगी; क्योंकि वह वाणी जो कहती है कि "तू किसीको मत मार" अब कहीं बाहरसे नहीं आ रही है। वह अब बाह्यागत नहीं है, किन्तु अन्तर्गत हो गई है। अब वह जनसमुदायके हृदयसे आ रही है। अब वह सबके अन्तःकरणोंमें मनुष्यत्वकी सजीवित वाणी हो गई है। मनुष्योंको वह एक नवीन आज्ञा दे रही है। वह उनको एक उच्चतर कर्त्तव्य—मानुषिक कर्त्तव्य सिखा रही है।

अब तक मनुष्यका सर्वोत्तम कर्त्तव्य मातृभूमिका अनुराग और हित था। परन्तु सभी मातृभूमियोंके ऊपर एक और भी

अधिक विशाल, अधिक उन्नत, अधिक अनन्त, अधिक असंख्यात, लेकिन अधिक विस्तृत मातृभूमि है जिसके एक अरब और पचास करोड़ निवासी हैं, तो भी उनमेंसे जिसके सच्चे नागरिक बहुत कम हैं। वह मातृभूमि समस्त मनुष्यत्व है और उसकी जनताकी संख्या इतनी होने पर भी उसके सच्चे हितैषी और कर्त्तव्यपरायण नागरिक बहुत ही कम हैं। उस मातृभूमिको प्यार करनेवाले बहुत कम लोग हैं। अबसे इसी मातृभूमिके प्रति मनुष्य अपना सर्वोत्कृष्ट कर्त्तव्य समझेगा, क्योंकि यही मनुष्यता सर्वोपरि मातृभूमि है।

शताब्दियों तक उद्योग और उन्नति करते करते तो मनुष्यने अपने घरेलू लाभोंकी अपेक्षा जातीय और दैशिक लाभोंको ही आवश्यकतर और महत्तर मानना सीखा—अपने घरकी अपेक्षा अपने देशको प्रियतर समझना और मातृभूमिके हेतु अपने आपको और अपने कुटुम्बको अर्पण करना सीखा। अब उसको यह सीखना आवश्यक है कि वह अपने देशके लाभोंकी अपेक्षा समस्त मनुष्य-जातिके लाभोंको प्रियतर और अधिकतर ध्येय समझे—वह मनुष्यमात्रके साथ ऐसा स्नेह रखे जो उसके स्वदेश-प्रेमसे भी अधिक विस्तृत और पवित्र हो, वह अपने आपको स्वदेशकी अपेक्षा मानव-समाजके हितार्थ ही अर्पण करना अधिक आवश्यक समझे। जैसे उसको अपने घरकी अपेक्षा मातृभूमिको अपना विशालतर घर समझनेका ज्ञान हो गया है, उसी प्रकार उसके हृदयमें इस बातका सजीवित ज्ञान भाव भी होना आवश्यक है कि वह समस्त मानव-समाजको अपना परिवार और समस्त संसारको अपना वास्तविक घर समझे।

वास्तविक और सच्चा मनुष्य वही है जिसकी अन्तरात्मामें मनुष्यत्वका जीता जागता ज्ञान-भाव विद्यमान रहता है। यही ज्ञान उसको ऐसी शिक्षा देता है जिससे वह यह विचार करने लगता है

कि "मैं पहले मनुष्य हूँ और उसके बाद मैं चाहे अँग्रेज, जर्मन, रूसी, जापानी या हिन्दुस्थानी हूँ। मातृभूमिका भक्त और अनुरागी होनेके पहले मैं अखिल मानव-समाजमें मनुष्य हूँ। सबसे पहले मैं मनुष्यत्वके कर्त्तव्यका आज्ञाकारी सेवक हूँ; इसके पश्चात् मैं नागरिकताके कर्त्तव्यका पालन करूँगा।"

समस्त मनुष्योंमें जो मनुष्यत्व है, उसका मान और आदर करना मनुष्यका प्रथम धर्म्म और नियम है। मानुषिक जीवनको सर्वोपरि समझना मनुष्यका प्रथम मन्तव्य है। मनुष्यके लिए जितनी धार्मिक आज्ञाएँ हैं, उनमें अग्रगण्य यह है कि "तू किसीको मत मार"।

अपने कुटुम्बके लाभार्थ मरनेकी अपेक्षा अपने देशके हितार्थ मरना अधिक श्रेष्ठ है; परन्तु उसके हेतु मरनेकी अपेक्षा किसीको न मारना और भी अधिक श्रेष्ठ है। किसी बहानेसे, किसी दशामें स्वदेशके लाभार्थ दूसरोंकी हत्या करना अच्छा नहीं है।

इस संग्राममें ऐसे भी मनुष्य हैं, जिन्होंने इस मानुषिक कर्त्तव्यका पालन किया है। उन्होंने अपने आपको मरवा डाला, परन्तु दूसरोंको नहीं मारा। वे मनुष्यत्वके हेतु अपने उन्नत हृदयोंको रखते हुए और अपने हाथोंको खूनके मैले रंगसे बचाते हुए मर गए।

परन्तु वे मर नहीं गये हैं, वे मानव-समाजमें मानव-समाजकी ही नाई सदा जीते है। वे अमर हो गये हैं—उनका जीवन अनन्त हो गया है। क्योंकि मनुष्य जीवधारी है। वे लोग जो इसको निर्जीव और निर्देह समझते हैं, वास्तवमें अन्धे हैं। मनुष्योंकी भाँति, जातियोंकी नाई, मनुष्यत्व अपना निजका ज्ञान-भाव रखते हुए वास्तविक देहधारी है। चाहे मनुष्य और जातियाँ उसको न पहचानें, परन्तु वह तो उनको सदैव जानता रहता है। वह मनुष्यता ही सबकी ऐसी माता है जो सर्वोपरि है, जो सबको

आलिंगन करती है और जो सबको अपने गर्भमें धारण करती और उनको जन्म देती है। सबका जीवन उसीके जीवन पर अवलिम्बत है। उसीकी शक्तियोंका प्रवाह जातियोंमें जीवन और चैतन्य उत्पन्न करता है। उसी मनुष्यताका रुधिर सबके शरीरोंमें प्रसृत रहता है।

इस सजीवित मनुष्यताका सजीवित देह भी है और जातियाँ उसके अंग हैं। उसीके शरीरकी समस्त जातियाँ विभाग हैं। मनुष्यताके सचेत हृदय भी है, परन्तु वह मनुष्योंके हृदयमें पड़ा सोता है; क्योंकि अभी तक उन्होंने अपने प्रेम और स्नेहको दूर दूर तक अपना काम करनेके लिए नहीं भेजा है।

अब मनुष्यताके जीवित शरीरके लिए विचारशील मस्तिष्क भी बनाया जाना अत्यन्त आवश्यक है। और इस रचना, इस निर्माणके हेतु संसारकी समस्त जातियोंके ऐसे मनुष्योंका एकत्र और सम्मिलित होना आवश्यक है जो सदा मनुष्यताका ही चिन्तवन और ध्यान करते हों। ऐसे ही मनुष्य एक दिन जातियोंके नेता बनेंगे।

जब आधुनिक जातियोंको जन्म देनेके निमित्त, जब आधुनिक जातीयता और देशहितैषिताका निर्माण करनेके हेतु, नगरोंकी समस्त शक्तियोंके जमाव और एकीकरणने इतने पदार्थों और व्यवस्थाओंको बदल दिया और नये रूपमें ढाल दिया, तब क्या समस्त मनुष्यताकी समस्त शक्तियोंका अधिकतर बलवान् जमाव और संघटन, नवीन, अद्भुत एवं विचित्र व्यवस्थाएँ नहीं रच सकेगा? मनुष्यता अपने अंगोंको एकत्र करके, उनमें समान भाव उत्पन्न करके, अपने भाग्यकी स्वामिनी बनकर, ओछे जीवनके फन्दोंसे छुटकारा पाकर, अपने नवीन जीवनकी प्रणालियाँ और व्यवस्थाएँ अवश्य ही बना लेगी। वह उस नवीन मनुष्यको उत्पन्न कर देगी

जिसके आगमनके लिए प्रकृति प्रतीक्षा कर रही है। फिर वह चिरस्मरणीय आशाओंको, अमर स्वप्नोंको, ऐहिक भविष्यके दुःख-दायक स्वप्नोंको, आनन्द और हर्ष को........प्राप्त कर लेगी।

हे मनुष्य! हे प्रेत से भरे हुए मनुष्य! जो तू आज अपने आपको अपने ही हाथोंसे चीर फाड़ रहा है और अपने आपको अत्यन्त पीड़ित करके मृत्युको प्राप्त हो रहा है, सुन! देख! अब वह घड़ी आ गई है जो तुझमें ज्ञानभावकी जागृति कराकर तेरे क्लेशों और घावोंपर मरहम-पट्टी लगावेगी और तेरे दुःख दूर करेगी।

हे जातियो! तुम एक ऐसे शरीरके जीवित अंग हो जो अपने आपको नहीं जानता! तुम आपसमें एक दूसरीका रुधिर वहा रही हो। तुम भी सुनो! देखो! वह शुभ घड़ी आ गई है जब कि तुम इस वातका ज्ञान प्राप्त करके कि तुम एक ही शरीरके अंग हो, पारस्परिक हत्याका अन्त कर दोगी। मनुष्यताकी ओर देखो! छोड़ दो इस अहम्भावको। पारस्परिक विरोध और स्वार्थकी निद्रा त्यागो। देखो, भ्रातृभावका प्रज्ज्वलित सूर्य उदय हो रहा है और अपनी दयार्द्र रश्मियाँ संसार पर डालने लगा है।

हे मनुष्यता! हे पवित्रात्मा! तू जो मनुष्यों और जातियोंके हृदय-मन्दिरोंमें खूब खर्राटे लेती सो रही थी, अब जाग! शुभ घड़ी आ गई है। अब निद्रा त्याग दे और उठ खड़ी हो।
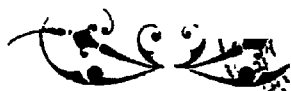
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-सीरीज ।

—:*:—

हिन्दी-संसारमें यह ग्रन्थमाला सबसे अच्छी और सबसे पहली है। पिछले सात आठ वर्षोंमें इसने हिन्दी साहित्यकी सबसे अधिक सेवा की है। हिन्दी-भाषा-भाषियोंके लिए यह आदर और अभिमानकी चीज है। इसका जिस तरह अन्तरंग मनोहर होता है, वहिरंग भी उसी तरह आँखोंको शीतल करनेवाला होता है। अर्थात् विषयकी गम्भीरता, उपयोगिता और रचना-सौन्दर्यके साथ साथ इसका प्रत्येक ग्रन्थ कागज, छपाई, सफाई और जिल्दबन्दी आदिकी दृष्टिसे बहुत बढ़िया होता है। इसमें अस्थायी और अन्तःसार-शून्य कूड़ा-कर्कटके लिए जगह नहीं, बहुमूल्य और स्थायी ग्रन्थ-रत्न ही इस मालामें गूँथे जाते हैं। इसके प्रत्येक ग्रन्थके चुनावमें और संशोधन तथा सम्पादनमें बहुत अधिक सावधानी रक्खी जाती है। इसी कारण वर्तमान ग्रन्थ-मालाओंमें इसकी प्रसिद्धि और ग्राहकसंख्या सबसे अधिक है और थोड़े ही समयमें इसके अधिकांश ग्रंथोंके दो दो और तीन तीन संस्करण हो चुके हैं। इसके प्रायः सभी ग्रन्थोंकी पत्र-सम्पादकों और दूसरे विद्वानोंने मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है।

प्रत्येक हिन्दी-प्रेमीको इसका स्थायी ग्राहक बनना चाहिए। आठ आने 'प्रवेश फीस' जमा करा देनेसे चाहे जो स्थायी ग्राहक बन सकता है। स्थायी ग्राहकोंको बहुत लाभ होता है। वे सीरीजके ग्रन्थोंके एक तरहसे 'कमीशन एजेण्ट' बन जाते हैं। क्योंकि उन्हें सीरीजके तमाम ग्रन्थ—ग्राहक होनेसे पहले निकले हुए और आगे निकलनेवाले—पौनी कीमतमें दिये जाते हैं और चाहे जिस ग्रन्थकी, चाहे जितनी प्रतियाँ, चाहे जितनी बार, उन्हें इसी पौनी कीमतमें मिल सकती हैं। पूर्वप्रकाशित ग्रन्थोंका लेना न लेना उनकी इच्छा पर निर्भर है, परन्तु आगे निकलनेवाले ग्रन्थ वर्ष भरमें

कमसे कम ५) दामके लेना ही पड़ते हैं। अधिकका लेना ग्राहकोंकी इच्छा पर निर्भर है।

प्रत्येक ग्रन्थके छपनेकी सूचना वी. पी. करनेके १५ दिन पहले दी जाती है। सूचनामें पुस्तकका विषय, लेखकका नाम, मूल्य आदिका संक्षिप्त विवरण लिखा रहता है।

अब तक इस ग्रन्थमालामें आगे लिखे हुए ४० ग्रन्थ निकल चुके हैं:—

१–२	स्वाधीनता	२)	२१	अब्राहम लिंकन	॥≈)
३	प्रतिभा (उप०)	१।)	२२	मेवाड़-पतन (नाटक)	॥।≈)
४	फूलोंका गुच्छा (गल्पें)	॥−)	२३	शाहजहाँ "	॥।≈)
५	आँखोंकी किरकिरी (उप०)	१॥≈)	२४	मानव-जीवन	१।≈)
			२५	उस पार (नाटक)	१)
६	चौबेका चिट्ठा	॥।)	२६	ताराबाई "	१)
७	मितव्ययता	॥।≶)	२७	देश-दर्शन	१॥।)
८	स्वदेश (निबन्ध)	॥≈)	२८	हृदयकी परख (उप०)	॥।≈)
९	चरित्रगठन और मनोबल	≶)	२९	नव-निधि (गल्पें)	॥।≈)
१०	आत्मोद्धार (जीवनी)	१)	३०	नूरजहाँ (नाटक)	१)
११	शान्तिकुटीर	॥।≈)	३१	आयर्लैंडका इतिहास	१॥।≈)
१२	सफलता	॥।)	३२	शिक्षा (निबन्ध)	॥−)
१३	अन्नपूर्णाका मन्दिर (उप०)	॥।)	३३	भीष्म (नाटक)	१≈)
१४	स्वावलम्बन	१॥)	३४	काबूर (चरित)	१)
१५	उपवास-चिकित्सा	॥।)	३५	चन्द्रगुप्त (नाटक)	१)
१६	सूमके घर धूम (प्रहसन)	≶)	३६	सीता "	॥−)
१७	दुर्गादास (नाटक)	१)	३७	छाया-दर्शन	१।)
१८	बंकिम-निबन्धावली	॥।≈)	३८	राजा और प्रजा	१)
१९	छत्रसाल (उप०)	१॥)	३९	गोबर-गणेश-संहिता	॥−)
२०	प्रायश्चित्त (नाटक)	।)	४०	साम्यवाद	२॥)